# समीचीन जैन धर्म

# समीचीन जैन धर्म

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक–20

ग्रन्थमाला सम्पादक
सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री
डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन

समीचीन जैन धर्म
सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रथम संस्करण 1985
मूल्य : दस रुपये

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18 इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड
नयी दिल्ली–110 003

मुद्रक
यतीश चन्द्र जैन
दी इयुरेका प्रिंटिंग वर्क्स प्रा. लि
वाराणसी



SAMICHEEN JAIN DHARMA by Siddhantacharya Pt Kailash Chandra Shastri, Published by Bharatiya Jnanpith, 18 Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003. Printed by Yatish Chandra Jain, at the Eureka Printing Works Pvt Ltd, Varanasi First Edition: 1985, Price 10/-

# समीचीन जैनधर्म
## (मोक्षमार्ग प्रकाशक सार)

स्व० पंडित प्रवर टोडरमलजी जैनधर्मके प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने गोम्मटसार जैसे महान् ग्रन्थराजकी भाषा टीका की थी। साथ ही वे आचार्य कुन्दकुन्दके अध्यात्म ग्रन्थोंके भी तलस्पर्शी विद्वान थे। इस तरह निश्चय व्यवहाररूप जिनवाणीका उनका अभ्यास अपूर्व था। उसीको लेकर उन्होंने 'मोक्ष मार्ग प्रकाशक' ग्रन्थकी रचना उस समयकी दूसरी भाषामें की थी। इस ग्रन्थमे नौ अध्याय हैं। उनमे, अन्तिम चार अध्याय विशेष महत्वपूर्ण है। छठवें अधिकारमें कुदेव, कुगुरु और कुधर्मका प्रतिषेध करते हुए तीनोके स्वरूपका विस्तारसे वर्णन है। सातवें अधिकारमें एकान्त निश्चयावलम्बी, एकान्त व्यवहारावलम्बी और एकान्त उभयावलम्बी जैन मिथ्यादृष्टियोका विवेचन है जो जिनागममे इस प्रकारसे कही भी वर्णित नही। आठवे अधिकारमे चारो अनुयोगोकी उपयोगिताका विवेचन है जो अन्यत्र उपलब्ध नही है। नवम् अधिकारमे मोक्षमार्गके स्वरूपका विवेचन करते हुए सम्यग्दर्शनके विभिन्न लक्षणोका समन्वय बडी ही सुन्दर रीतिसे किया है। इस तरह ये चारो अध्याय स्वाध्याय प्रेमियो और जैनधर्मके अभ्यासी छात्रो तथा विद्वानोके लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। किन्तु ग्रन्थके अन्तमे पड जानेसे उनका महत्व सर्वसाधारणकी दृष्टिमे नही आता। इसीसे उन्हे प्रमुखता देनेके लिए मैंने 'मोक्ष मार्ग प्रकाशक' का ही अवलम्बन लेकर उसके साररूपमें 'समीचीन जैनधर्म' नामक पुस्तक सकलित की है। इसमें मेरा अपना कुछ भी नही है। सब कुछ 'मोक्षमार्ग प्रकाशक'का ही सार है। आशा है इससे 'मोक्ष मार्ग प्रकाशक' का अभिप्राय सर्वसाधारण तक पहुँच सकेगा और वे इसे पढ़कर जैन धर्म सम्बन्धी निश्चय और व्यवहारपरक विवादोको दूर कर जिनवाणीके यथार्थ स्वरूपको हृदयंगम कर सकेगे तथा एकान्तवाद रूप मिथ्यात्वके चगुलसे छूटकर सच्चे जैन बननेमे समर्थ हो सकेगे। मेरा प्रत्येक जैन धर्मावलम्बीसे अनुरोध है कि वे इस पुस्तकका अध्ययन अवश्य करें। त्याग मार्गके पथिकोंके लिए भी यह उपयोगी है।

वाराणसी — कैलाश चन्द्र शास्त्री

# विषय-सूची

## सप्तम अधिकार



## अष्टम अधिकार

## प्रथम अधिकार

# जैनोंका अनादि मूलमंत्र

**णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं ।**
**णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ।।**

अर्थ—अरहंतोको नमस्कार, सिद्धोको नमस्कार, आचार्योको नमस्कार, उपाध्यायोको नमस्कार, लोकमे सब साधुओको नमस्कार । इस प्रकार इसमे नमस्कार किया है इसलिए इसे नमस्कार मन्त्र कहते है ।

अब यहाँ जिनको नमस्कार किया उनका स्वरूप कहते है—

### अरहंतोका स्वरूप

जो गृहस्थ अवस्थाको त्यागकर मुनि धर्म स्वीकार करके अपने स्वभावकी साधनाके द्वारा चार घाति कर्मोंका क्षय करके अनन्त चतुष्टय रूप हुए है और अनन्त ज्ञानके द्वारा अपने अनन्त गुण पर्याय सहित समस्त जीवादि द्रव्योको एक साथ प्रत्यक्ष जानते है, अनन्त दर्शन द्वारा उनका सामान्य अवलोकन करते है, अनन्त वीर्य द्वारा अनन्त सामर्थ्यको धारण करते है व अनन्त सुख द्वारा निराकुल परमानन्दका अनुभव करते है । तथा सर्व राग द्वेषादि विकारभावोसे सर्वथा रहित होकर शान्त रस रूप परिणमित हुए है । भूख, प्यास आदि अठारह दोषोसे रहित होनेसे देवाधिदेव कहलाते हैं । जिनका परम औदारिक शरीर आयुध, वस्त्राभूषण तथा काम क्रोधादि विकारोसे रहित होता है। जिनके वचनोसे लोकमे धर्मतीर्थका प्रवर्तन होता है जिसके द्वारा जीवोका कल्याण होता है । जिनकी सेवा इन्द्रादि करते है ऐसे अरहन्त देव होते हैं ।

### सिद्धोका स्वरूप

अरहन्त अवस्था प्राप्त करनेके पश्चात् शेष चार अघाति कर्मोंके भी क्षय होने पर औदारिक शरीरको भी त्याग कर जो ऊर्ध्वगमन स्वभावसे लोकके अग्रभागमे

विराजमान हुए है और समस्त परद्रव्योका सम्बन्ध छूटनेसे मुक्त कहे जाते हैं। उनकी आत्माके प्रदेशोका आकार अन्तिम शरीरसे किञ्चित् न्यून पुरुषाकार रूप रहता है। प्रतिपक्षी कर्मोका नाश होनेसे सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन आदि आत्मिक गुण पूर्णरूपसे विकसित हुए हैं। नोकर्मका सम्बन्ध दूर होनेसे उनके अमूर्तत्वादि समस्त आत्मिक धर्म प्रकट हुए है। भावकर्मका अभाव होनेसे बिल्कुल आनन्दमय शुद्ध स्वभाव रूप परिणमन हो रहा है। उनका ध्यान करनेसे भव्य जीवोको स्वद्रव्य-परद्रव्यका और औपाधिक भावरूप स्वभावोका ज्ञान होता है और इस तरह स्वयं सिद्धोके समान होनेमे वे साधन है इसलिए साधने योग्य अपने शुद्ध स्वरूपको दर्शाने के लिए वे प्रतिबिम्बके समान हैं। वे कृतकृत्य होनेसे अनन्तकाल पर्यन्त ऐसे ही रहते हैं।

## आचार्य, उपाध्याय व साधुका सामान्य स्वरूप

जो विरागी हो, समस्त परिग्रहको त्याग, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्मको स्वीकार करके अन्तरगमे तो उस शुद्धोपयोग द्वारा अपनेको आप रूप अनुभव करते हैं, पर-द्रव्यमे अहबुद्धि नही करते, अपने ज्ञानादि स्वभावको ही अपना मानते हैं। परभावो मे ममत्व नही करते। परद्रव्योको जानते तो हैं परन्तु उनमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि करके रागद्वेष नही करते। शरीरकी नाना अवस्थाओमे सुख-दुख नही मानते। अपने उपयोगको बहुत नही भ्रमाते। कदाचित् मन्दरागके उदयमे शुभोपयोग भी होता है उसमे जो शुद्धोपयोगके बाह्य साधन है उनमे तो अनुराग करते है परन्तु उसे भी हेय जानकर दूर करना चाहते है। तीव्र कषायके उदयका अभाव होनेसे हिंसादिरूप अशुभोपयोग परिणतिका तो उनके अभाव ही होता है। ऐसी अन्तरग अवस्थाके साथ बाह्यमे दिगम्बर सौम्य मुद्राके धारी होते है। शरीरका सस्कार नही करते। वनखण्ड आदिमे निवास करते है। अठाईस मूलगुणोको पूर्णरूपसे पालते है। बाईस परीषहोको सहते है। बारह प्रकारका तप करते है। कदाचित् ध्यानमुद्रा धारण करके प्रतिमावत् निश्चल होते है। कदाचित् अध्ययन आदि बाह्य क्रियाओमे प्रवृत्त होते है। कदाचित् मुनिधर्मके सहायक शरीरकी स्थितिके आहार-विहारादिमे सावधान होते है। ऐसी सब जैन मुनियोकी अवस्था होती हैं।

## आचार्यों का स्वरूप

उन मुनियोमें-से जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी अधिकतासे प्रधान पद प्राप्त करके संघके नायक हुए हैं, तथा जो मुख्यरूपसे निर्विकल्प स्वरूपाचरणमें ही मग्न रहते हैं और जो कभी-कभी धर्मको जाननेको उत्सुक जनोंको करुणाबुद्धिसे धर्मोपदेश देते हैं, जो दीक्षा ग्रहण करना चाहते हैं उनको दीक्षा देते हैं और जो अपने दोषोंको प्रकट करते हैं उनको प्रायश्चित् विधिसे शुद्ध करते हैं। ऐसे आचरण करने वाले आचार्य होते हैं।

## उपाध्यायोका स्वरूप

तथा जो मुनि बहुत जैन शास्त्रोंके ज्ञाता होकर संघमें पठन-पाठनके अधिकारी होते हैं उनको उपाध्याय कहते है।

## साधुओंका स्वरूप

उक्त दोनो पद धारकोंके सिवाय जो अन्य समस्त मुनि हैं जो आत्म स्वभावको साधते है। अपना उपयोग परद्रव्योंमें इष्ट अनिष्टपना मानकर फँसे नहीं ऐसा प्रयत्न करते है। बाह्यमें उसके साधनभूत तपश्चरण आदि क्रियाओंमें लगते है, भक्ति-वन्दना आदि करते है, वे आत्म स्वभावके साधक साधु होते है।

## उनकी पूज्यताका कारण

इन अरहंत आदिका स्वरूप वीतराग विज्ञानमय है। उसीके कारण वे पूज्य है। क्योंकि जीव तत्वकी अपेक्षा तो सब जीव समान हैं। परन्तु रागादि विकारोंसे और ज्ञानकी हीनतासे तो जीव हीन होते है और रागादिकी हीनता व ज्ञानकी विशेषतासे स्तुतियोग्य होते है। सो अरहंत और सिद्धोंके तो सम्पूर्ण रागादिकी हीनता और ज्ञानकी पूर्णता होनेसे सम्पूर्ण वीतराग विज्ञान भाव सम्भव है। और आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंके एकदेश रागादिकी हीनता और ज्ञानकी विशेषता होनेसे एकदेश वीतराग विज्ञान भाव सम्भव है, इसलिए ये सब पूज्य माने गये है।

पुनश्च, अरहंत आदि पदोंके सम्बन्धमें इतना विशेष जानना कि मुख्यरूपसे तीर्थंकरका और गौण रूपसे सब केवलियोंको अरहंत कहते हैं और चौदहवें गुणस्थानके अनन्तर समयसे वे सिद्ध कहे जाते है।

यहाँ अरहन्तोको सिद्धोसे पहले नमस्कार करनेका कारण यह है कि अरहतोसे उपदेशादिका प्रयोजन विशेष सिद्ध होता है।

इन अरहन्त आदिको पच परमेष्ठी कहते हैं। क्योकि जो सर्वोत्कृष्ट इष्ट होता है उसका नाम परमेष्ट है। पाँच परमेष्टोका समुदाय पचपरमेष्ठी कहा जाता है।

## अरहत आदिसे प्रयोजन सिद्धि

आत्माके परिणाम तीन प्रकारके होते हैं—सक्लेश रूप, विशुद्ध रूप और शुद्ध रूप। तीव्र कषाय रूप परिणाम सक्लेश रूप है। मन्द कषाय रूप परिणाम विशुद्ध रूप है। तथा कषाय रहित परिणाम शुद्ध है। सक्लेश परिणामोके द्वारा आत्माके स्वभावके घातक ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मोका तीव्र बन्ध होता है। और विशुद्ध परिणामोके द्वारा उनका मन्द बन्ध होता है। तथा यदि विशुद्ध परिणाम प्रबल होते हैं तो पहले बाधा हुआ तीव्र बन्ध भी मन्द होता है। शुद्ध परिणामोके द्वारा बन्ध नही होता, उनके द्वारा केवल पूर्वबद्ध कर्मोकी निर्जरा ही होती है।

अरहन्त आदिके प्रति जो भक्ति रूप भाव होते हैं वे कषायोकी मन्दताको लिये होते है। इसलिये वे परिणाम विशुद्ध होते हैं। तथा वे विशुद्ध परिणाम कषायको मिटानेका साधन होनेसे शुद्ध परिणामके कारण हैं। सो ऐसे परिणामोसे आत्मस्वभावके घातक घातिया कर्मोकी हीनता होनेसे सहज ही वीतरागविज्ञान प्रकट होता है। तथा अरहन्त आदिके आकारका दर्शन करना, उनके स्वरूपका विचार करना या उनके वचन सुनना या उनके अनुसार प्रवर्तन करना आदि कार्य तत्काल ही निमित्तभूत होकर रागादिको घटाते हैं। जीव अजीव आदिके विशेष ज्ञानको उत्पन्न करते हैं।

प्रश्न—अरहन्त आदिके द्वारा इन्द्रिय जनित सुखकी प्राप्ति और दुःखका विनाशरूप प्रयोजन भी सिद्ध होता है या नही ?

समाधान—अरहन्त आदिके प्रति भक्तिरूप जो विशुद्ध परिणाम होते है उनसे अघातिया कर्मोकी साता आदि पुण्य प्रकृतियोका बन्ध होता है। और यदि वे विशुद्ध परिणाम तीव्र होते है तो पूर्वकालमे जो असाता आदि पाप प्रकृतियोका बन्ध हुआ था उनको भी मन्द करते है। अथवा नष्ट करके पुण्य प्रकृतिरूप परिणमित करते है। और उस पुण्यका उदय होनेपर स्वयमेव इन्द्रिय सुखकी साधनभूत

सामग्री प्राप्त होती है तथा पापका उदय हटनेपर स्वयमेव दुःखकी कारणभूत सामग्री दूर हो जाती है। इस प्रकार इस प्रयोजनकी भी सिद्धि उसके द्वारा होती है। परन्तु इससे कुछ भी अपना हित नहीं होगा, क्योंकि यह आत्मा कषाय भावोंसे बाह्य सामग्रीमें इष्ट अनिष्टपना मानकर स्वयं ही सुख-दुःखकी कल्पना करता है। कषायके बिना बाह्य सामग्री कुछ भी सुख दुःखकी दाता नहीं है। और कषाय आकुलतामय है। इसलिए इन्द्रिय जनित सुखकी इच्छा करना और दुःखसे डरना भ्रम है।

तथा इस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये अरहन्त आदिकी भक्ति करनेसे भी तीव्र कषाय होनेके कारण पापबन्ध ही होता है। इसलिये अपनेको इस प्रयोजनका प्रार्थी होना योग्य नहीं है। अरहन्त आदिकी भक्ति करनेसे ऐसे प्रयोजन तो स्वयमेव ही सिद्ध होजाते हैं। इसलिये अरहन्त आदि परम इष्ट मानने योग्य हैं।

## आगम परम्पराकी प्रामाणिकता

वर्तमानमें इस क्षेत्रमें अवसर्पिणी काल है, उसमें चौबीस तीर्थङ्कर हुए। जिनमें श्री वर्द्धमान नामक अन्तिम तीर्थङ्कर हुए। उन्होंने केवलज्ञान द्वारा विश्वको जानकर जीवोंको दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश दिया। उसको सुनकर गौतम नामक गणधरने धर्मानुराग वश अङ्ग प्रकीर्णकोंकी रचना की। फिर वर्धमान स्वामी तो मुक्त हुए। उनके पश्चात् तीन केवली हुए—गौतम १, सुधर्माचार्य २ और जम्बुस्वामी ३। तत्पश्चात् कालदोषसे केवलज्ञानी होनेका तो अभाव हुआ, परन्तु कुछ कालतक द्वादशांगके पाठी श्रुतकेवली रहे। फिर उनका भी अभाव हुआ। तब आचार्यादिको द्वारा उनके अनुसार बनाये गये ग्रन्थ तथा उन ग्रन्थोंके अनुसार बनाये गये ग्रन्थोंकी प्रवृत्ति रही। उनमेंसे भी कालदोषसे दुष्टो द्वारा कितने ही ग्रन्थ नष्ट कर दिये गये तथा महान ग्रन्थोका अभ्यासादि न होनेसे लोप हो गया तथा कितने ही महान् ग्रन्थ पाये जाते है उनका बुद्धिकी मन्दताके कारण अभ्यास नहीं होता, जैसे कि दक्षिणमें गोम्मट स्वामीके निकट मूडबिद्री नगरमें धवला, महाधवल, जयधवल पाये जाते है, परन्तु दर्शन मात्र ही हैं। तथा कितने ही ग्रन्थ

१ इन तीनों सिद्धान्त ग्रन्थोंका प्रकाशन हिन्दी भाषानुवादके साथ होगया है और अब ये पठन पाठनमें आते हैं।

अपनी बुद्धि द्वारा अभ्यास करने योग्य पाये जाते है, उनमे से भी कुछ ग्रन्थोंका ही अभ्यास बनता है। ऐसे इस निकृष्ट कालमे जैनधर्मका घटना तो हुआ परन्तु इस परम्परा द्वारा अब भी सत्य अथका प्रकाशन करनेवाले जैनशास्त्र वर्तमान है।

यहाँ कोई पूछता है कि परम्परा तो हमने जानी परन्तु इस परम्परामे सत्यार्थ-पदोकी ही रचना होती आई, उसमे असत्यार्थपद नही मिले, ऐसा हम कैसे जाने ?

उसका समाधान–असत्यार्थपदोकी रचना अति तीव्रकषायके बिना नही होती क्योकि जिस असत्य रचना की परम्परासे अनेक जीवोका महाबुरा हो और स्वयको नरक निगोदमे जाना पडे ऐसा महाविपरीत कार्य तो अत्यन्त तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभके होने पर ही होता है। परन्तु जैनधर्ममे ऐसा कषायवान होता नही है।

तथा प्रथम मूल उपदेश दाता तो तीर्थंकर केवली हुए। वे तो सर्वथा मोह-के नाश से सबकषायो से सर्वथा रहित ही थे। फिर ग्रन्थकर्ता गणधर और आचार्य मोह के मन्द उदय से सब बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहको त्यागकर, महा-मन्द कषायी थे। उनके इस मन्द कषायके कारण किंचित् शुभोपयोग की ही प्रवृत्ति पाई जाती है। और कुछ प्रयोजन नही है। तथा श्रद्धानी गृहस्थ भी कोई ग्रन्थ रचते है तो वे भी तीव्रकषायी नही होते। यदि उनके तीव्रकषाय होती तो सब कषायोका जिस तिस प्रकारसे नाश करने वाले जिनधर्ममे उनकी रुचि कैसे होती ? अथवा जो कोई मोहके उदयसे अन्य कार्यों द्वारा कषायका पोषण करता है तो करो परन्तु जिन आज्ञा भग करके अपनी कषायका पोषण करे तो जैनीपना नही रहता। इस प्रकार जैनधर्ममे ऐसा तीव्रकषायी कोई नही होता जो असत्य पदोकी रचना करके अपना और परका बुरा करे।

प्रश्न—यदि कोई जैनाभास तीव्रकषायी होकर जैन शास्त्रोमे असत्यार्थ पदोको मिला दे और फिर उसकी परम्परा चले तो क्या किया जाये ?

समाधान—जैसे कोई सच्चे मोतियोके गहनेमे झूठे मोती मिलादे, परन्तु झलक न मिलनेसे पारखी ठगाता नही है। उसी प्रकार कोई सत्यार्थ पदोके समूह रूप जैनशास्त्रमे असत्यार्थ पद मिलाये, परन्तु जैन शास्त्रोके पदोमे तो कषाय मिटानेका तथा लौकिक कार्य घटानेका प्रयोजन है, और उस पापीने असत्यार्थ पद मिलाये उनमे कषायका पोषण करनेका तथा लौकिक कार्य साधनेका प्रयोजन है अत दोनो

मे मेल नही खाता इसलिए परीक्षा करके ज्ञानी प्रमाता तो नही, किन्तु कोई मूर्ख हो तो जैन शास्त्रोके नामसे ठगाया जाता है। दूसरी बात यह है कि ऐसे तीव्र कषायी जैनाभास इसी कालमें होते हैं। अत: जैन शास्त्रोमें असत्यार्थ पदोंकी परम्परा नही चलती, शीघ्र ही कोई उन असत्यार्थ पदोका निषेध करता है।

## बांचने सुनने योग्य शास्त्र—

जो शास्त्र मोक्षमार्गका प्रकाश करे वही शास्त्र बाचने सुनने योग्य हैं और मोक्षमार्ग एक वीतराग भाव ही है। इसलिए जिन शास्त्रोमें किसी प्रकार राग-द्वेष-मोह भावोका निषेध करके वीतरागभावको प्रकट किया हो उन्ही शास्त्रोका बाचना सुनना योग्य है। तथा जिन शास्त्रोमे रागभाव और द्वेषभावका तथा अतत्त्वश्रद्धान का पोषण करके मोहका पोषण किया गया हो वे शास्त्र नही हैं किन्तु शस्त्र हैं। इसलिए ऐसे शास्त्रोका बाचना सुनना उचित नही है।

●

# द्वितीय अधिकार

# अनुयोगोंका स्वरूप

जिन मतमे चार अनुयोगोके द्वारा जैन धर्मका उपदेश किया गया है। वे चार अनुयोग है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

जिन शास्त्रोमे तीर्थकर चक्रवर्ती आदि महान् पुरुषोके चरित्रका कथन किया हो वे प्रथमानुयोगरूप है।

जिनमे गुणस्थानोका, मार्गणाओका, जीव और कर्मोका तथा तीनो लोको आदि का कथन हो वे करणानुयोगरूप है।

जिनमे गृहस्थो और मुनियोके आचारका कथन हो व चरणानुयोगरूप है। तथा जिनमे छह द्रव्य, सात तत्त्व तथा स्वपर भेदज्ञान आदिका कथन हो वे शास्त्र द्रव्यानुयोग रूप है।

अब इनका प्रयोजन कहते है—

### प्रथमानुयोगका प्रयोजन

प्रथमानुयोगमे तो ससारकी दशाके चित्रणके साथ पुण्य पापके फल और महान् पुरुषोकी प्रवृत्ति आदिका कथन करके जीवोको धर्ममे लगाया है। जो जीव नासमझ होते है वे भी उसे सुनकर धर्ममे लगते है। क्योकि वे सूक्ष्म बातोको तो समझते नही है। किन्तु लौकिक कथाओको समझते है। उन कथाओमे पापको छुडाकर धर्ममे लगानेका कथन होता है। उनको सुनकर सुनने वाले पापको बुरा और धर्म-को भला जानकर धर्ममे रुचि लेते है। इस प्रकार अल्प बुद्धि वालोको धर्ममे लगाने के लिए यह अनुयोग है।

प्रथम अर्थात् नासमझ मिथ्यादृष्टिके लिए जो अनुयोग है वह प्रथमानुयोग है ऐसा अर्थ गोम्मटसारकी टीकामे किया है। जो लोग तत्त्वज्ञानी है वे भी इस अनु-योगको पढे-सुने तो उनके ज्ञानकी पुष्टि होती है। जैसे वे जानते है कि जीव अनादि

निधन है, शरीरादि सयोगी पदार्थ है। पुराणोमे भवान्तरका वर्णन पढ़कर उसकी पुष्टि होती है। वे शुभ-अशुभ और शुद्धोपयोगको जानते हैं। पुराणोमे जीवोके उन उपयोगोकी प्रवृत्ति और उसका फल पढकर तत्त्वज्ञानमे दृढता आती है।

## करणानुयोगका प्रयोजन

करणानुयोगमे जीव और कर्मोका मुख्यरूपसे विवेचन होता है। गुणस्थानो और मार्गणाओके साथ कर्मोके भेद प्रभेदो तथा उनकी अवस्थाओका विवेचन होता है। उन्हे पढकर जीवको अपनी पूर्ण दशाका तथा उत्थान और पतनका बोध होता है। इस अनुयोगको जाने बिना जीव ससारके बन्धनसे मुक्त नही हो सकता। इसके पढनेसे उसे केवलज्ञानके द्वारा जाने गये सूक्ष्म पदार्थोका बोध होता है और उसकी श्रद्धा दृढ होती है। इसमे उपयोग लगानेसे मन स्थिर होता है। करणका अर्थ परिणाम और गणित दोनो है। अत इस अनुयोगमे जीवके परिणामोका तथा तीनो लोकोके आकार आदिका कथन होता है।

## चरणानुयोगका प्रयोजन

इस अनुयोगमे गृहस्थधर्म और मुनिधर्मका कथन होता है। उसको जाने बिना श्रावक और मुनि नही बन सकता।

जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोगका अभ्यास करते है, उन्हे यह भासित होता है कि एक देश व सर्वदेश वीतरागता होनेपर श्रावक दशा और मुनिदशा होती है। जितने अशमे वीतरागता है उतने अशमे ही धर्म है और जितने अशमे राग है उतने अशमे ही अधर्म है। वीतरागता ही सच्चा धर्म है।

## द्रव्यानुयोगका प्रयोजन

द्रव्यानुयोगमे द्रव्योका और तत्त्वोका निरूपण है। जो जीव जीवादि द्रव्योको और तत्त्वोको नही जानते अपने को परसे भिन्न नही जानते उनको इसके अध्ययन से स्व और परका बोध होनेके साथ अनादि अज्ञानता मिट जाती है। तत्त्वज्ञानकी सार्थकता द्रव्यानुयोगके अभ्यासमे ही है। द्रव्यानुयोगका अभ्यास करते रहने पर ही तत्त्वज्ञान रहता है। न करे तो सब भूल जाता है। इसके अभ्याससे रागादि घटनेसे शीघ्र मोक्ष होता है।

*अब इन अनुयोगोमे जो व्याख्यान है उसका विश्लेषण करते है—*

## प्रथमानुयोगकी व्याख्यान पद्धति

प्रथमानुयोगमे जो कथाएँ हैं वे तो जैसी हैं वैसी ही कही हैं उनमें जो प्रसग प्राप्त व्याख्यान होता है वह ग्रन्थकर्ताके विचारानुसार भी होता है परन्तु प्रयोजन अन्यथा नही होता।

जो अज्ञानी जीव बहुत फल दिखाये बिना धर्ममे नही लगते और पापसे नही डरते उनका भला करनेके लिए प्रथमानुयोगमे व्यवहारकी प्रधानतासे वर्णन मिलता है जैसे जिन जीवोके शका काक्षा आदि नही हुए उनको सम्यक्त्व हुआ कहते हैं। परन्तु किसी एक कार्यमे शका काक्षा न करनेसे सम्यक्त्व नही होता। सम्यक्त्व तो तत्त्व श्रद्धान होनेपर होता है। परन्तु व्यवहार सम्यक्त्वके किसी एक अगमे सम्पूर्ण व्यवहार सम्यक्त्वका उपचार करके सम्यक्त्व हुआ कहते हैं, तथा किसी जैनशास्त्रका एक अग जानने पर सम्यग्ज्ञान हुआ कहते हैं। सो तो सशयादि रहित तत्त्वज्ञान होने पर सम्यग्ज्ञान होता है। यहा पूर्ववत् उपचारसे सम्यग्ज्ञान कहा है।

तथा भला आचरण होने पर सम्यक् चारित्र हुआ कहते है। जिसने जैन धर्म अगीकार किया हो व कोई छोटी मोटी प्रतिज्ञाकी हो उसे श्रावक कहते हैं। किन्तु श्रावक तो पचम गुणस्थानवर्ती होनेपर होता है। परन्तु पूर्ववत् उपचारसे उसे श्रावक कहा है। उत्तर पुराणमे श्रेणिकको श्रावकोत्तम कहा है परन्तु वह तो असयत था पर क्योकि उसने जैनधर्म स्वीकार किया था इसलिए ऐसा कहा है।

तथा जो सम्यक्त्वरहित मुनिलिंग धारण करे व द्रव्यमे भी कोई अतिचार लगाता हो उसे मुनि कहा है। किन्तु मुनि तो छठे आदि गुण स्थानवर्ती होने पर होता है। परन्तु पूर्ववत् उपचारसे मुनि कहा है।

एक कथामे एक ग्वालेने करुणावश मुनिको आगसे तपाया। परन्तु आये हुए उपसर्गको तो दूर करना ठीक है, किन्तु सहज अवस्थामे जो शीतादि परिषह होती है उसे दूर करना तो मुनिपर उपसर्ग है क्योकि यदि मुनि उसे अच्छा माने तो मुनिपदसे च्युत हो जावे। इसीसे विवेकी जन ऐसा नही करते। प्रथमानुयोगमे अविवेकी ग्वालेके करुणा भाववश ऐसा कार्य करनेकी प्रशसाकी है परन्तु विवेकी जनोंको ऐसा करना योग्य नही है।

तथा पद्मपुराणमें कथा है कि वज्रकरण राजाने सिंहोदर राजाको नमस्कार करनेसे बचनेके लिए हाथकी अंगूठीमें प्रतिमा रखी। किन्तु ऐसा करनेसे अविनय होती है। अत दूसरोको ऐसा करना योग्य नही है।

कथाओमे आता है कि कितने ही पुरुषोने पुत्रादि प्राप्तिके लिये चैत्यालयमें पूजनादि कार्य किये, नमस्कार मन्त्रका स्मरण किया। परन्तु ऐसा करनेसे नि कांक्षित गुणका अभाव होता है, निदान नामक आर्तध्यान होता है। इसलिये अन्तरगमे पापका प्रयोजन होनेसे पापका ही बन्ध होता है। परन्तु ऐसा करने वालेने मोहमे पडकर भी बहुत पापबन्धके कारण कुदेव आदिका पूजनादि नही किया, इसीसे उसकी प्रशसा की गई है। परन्तु लौकिक कार्योंके प्रयोजनसे धर्म साधन करना युक्त नही है। अत प्रथमानुयोगके इस प्रकारके कथनोसे भ्रमयुक्त होना ठीक नही है।

## करुणानुयोगकी व्याख्यान पद्धति

करणानुयोगमे छद्मस्थ जीवोकी प्रवृत्तिके अनुसार वर्णन नही है जैसा प्रथमानुयोग मे है। उसमे तो केवलज्ञान गम्य पदार्थोंका कथन है जैसे कितने ही जीव द्रव्यादिका विचार करते है व व्रतादि पालते हैं परन्तु उनके अन्तरगमे सम्यक्त्व और चारित्र न होनेसे उनको मिथ्यादृष्टि अव्रती कहते हैं। तथा कितने ही जीव द्रव्यादिके विचार तथा व्रतादिमे रहित है परन्तु अन्तरगमें सम्यक्त्व होनेसे उनको सम्यक्त्वी कहते है।

तथा किसी जीवके कषायोंकी प्रवृत्ति तो बहुत है किन्तु उसके अन्तरग कषाय-शक्ति थोडी है तो उसे मन्दकषायी कहते हैं। तथा किसी जीवके कषायोंकी प्रवृत्ति तो थोडी है किन्तु अन्तरंग कषायशक्ति बहुत है तो उसे तीव्रकषायी कहते हैं जैसे व्यन्तर आदिदेव कषायवश नगरका विनाश आदि करते हैं तथापि कषायशक्ति कम होनेसे उनके पीत लेश्या कही है। और एकेन्द्रिय आदि जीव कषाय करते दिखाई नही देते तथापि उनके बहुत कषायशक्ति होनेसे कृष्णादि लेश्या कही है। तथा सर्वार्थसिद्धिके देव कषायरूप कम प्रवर्तते हैं किन्तु कषाय शक्ति बहुत होनेसे उनके असंयम कहा है। और पंचम गुणस्थानवर्ती मनुष्य अब्रह्म सेवन आदि करते हैं किन्तु मन्दकषाय शक्ति होनेसे उनके देश सयम कहा है।

तथा किसी जीवके मन वचन कायकी चेष्टा थोडी दिखाई दे तथापि कर्मोंको आकर्षण करनेकी शक्तिकी अपेक्षा बहुत योग कहा है। किसीके चेष्टा बहुत दिखाई

दे तथापि शक्तिकी हीनतासे अल्प योग कहा है। जैसे केवली गमनादि क्रियारहित हुए तथापि उनके योग बहुत कहा है और दो इन्द्रिय आदि जीव गमनादि करते हैं तथापि उनके अल्प योग कहा है।

करणानुयोग कर्म प्रकृतियोके उपशम आदिकी अपेक्षासे जैसे सूक्ष्म शक्ति पाई जाती है तदनुसार गुणस्थानादिमे सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रादि रूप धर्मका निरूपण करता है, तथा सम्यग्दर्शन आदिके विषयभूत जीवादिका भी कथन सूक्ष्म भेदादि सहित करता है। आप यदि करणानुयोगके अनुसार उद्यम करना चाहे तो नही कर सकते। जैसे आप कर्मोंका उपशम आदि करना चाहे तो नही कर सकते। किन्तु तत्त्व आदिका निश्चय करनेका उद्यम करे तो उससे स्वय ही उपशम आदि सम्यक्त्व होते है।

एक अन्तर्मुहूर्तमे ग्यारहवे गुणस्थानसे गिरकर मिथ्यादृष्टि होता है। पुन क्षपक श्रेणी पर चढकर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ऐसे सूक्ष्म भाव बुद्धि गोचर नही है। इसलिए करणानुयोगके अनुसार ज्योका त्यो जानकर अपनी प्रवृत्ति बुद्धि गोचर जैसे भला हो वैसी करे।

अत करणानुयोगका मुख्य प्रयोजन यथार्थ पदार्थ बतलानेका है जैसा केवलज्ञान द्वारा जाना वैसा ही करणानुयोगमे कथन है। जो कथन छद्मस्थ जीवोके प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि गोचर न हो—उन्हे आज्ञाप्रमाण द्वारा मानना। यद्यपि केवलज्ञानका विषय तो बहुत है। परन्तु जीवके लिए उपयोगी जीव और कर्मादिका तथा त्रिलोक आदिका कथन ही इसमे होता है। जैसे जीवके भावोकी अपेक्षा चौदह गुणस्थान कहे है। चौदह मार्गणाए कही हैं। कर्मोके आठ प्रकार व उनकी एक सौ अडतालीस प्रकृतियाँ कही है इसमे व्यवहारनयकी प्रधानताको लिए हुए कथन है क्योकि व्यवहार के बिना विशेषको नही जाना जा सकता।

## चरणानुयोगकी व्याख्यान पद्धति

चरणानुयोगमे दो प्रकारसे उपदेश दिया गया है, एक तो व्यवहार का ही उपदेश और एक निश्चय सहित व्यवहारका उपदेश। जिन जीवोको निश्चयका ज्ञान नही तथा जो उपदेश देने पर भी समझनेमे असमर्थ है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोके लिए व्यवहारका ही उपदेश है तथा जिन्हें निश्चय और व्यवहार का ज्ञान है तथा

उपदेश देने पर जो उसे समझ सकते हैं ऐसे सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीवोके लिए निश्चय सहित व्यवहारका उपदेश दिया है।

व्यवहार उपदेशमे बाह्य क्रियाओ की प्रधानता है उनके उपदेशसे जीव पाप-क्रियाओ का छोडकर पुण्य क्रियाओमें लगता है। वहा क्रियाके अनुसार परिणाम भी तीव्रकषाय को छोडकर मन्दकषायी हो जाते हैं। परिणामोको सुधारने के लिए ही बाह्य क्रियाओ का उपदेश दिया गया है। तथा निश्चय सहित व्यवहारके उपदेशमे परिणामोकी ही प्रधानता है। उसके उपदेशसे तत्वज्ञान के अभ्यास द्वारा तथा वैराग्य भावना द्वारा परिणाम सुधरने पर बाह्य क्रिया भी सुधर जाती है, क्योकि परिणाम सुधरने पर बाह्य क्रिया सुधरती ही है।

इस प्रकार दो प्रकारके उपदेशमे जहाँ व्यवहारका ही उपदेश हो वहाँ सम्यग्दर्शन के प्रयोजनमे अरहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु, दया धर्मको ही मानना और को नही मानना, तथा जीवादि तत्वोके व्यवहार स्वरूपका श्रद्धान करना, उसमे शका आदि पच्चीस दोष न लगाना, नि शकित आदि अगोका तथा सवेग आदि गुणोके पालन करनेका उपदेश दिया जाता है।

तथा सम्यग्ज्ञानके लिए जिनमतके शास्त्रोके अभ्यास करनेका तथा सम्यक्-चारित्रके लिए एकदेश व सर्वदेश हिंसादि पापोके त्यागका व व्रतादि पालनका उपदेश देते है। तथा किसी जीवके विशेष धर्मका पालन करनेमें असमर्थ होनेपर एक आखडी आदिका भी उपदेश देते हैं। जैसे भीलमे कौवेका मास छुडाया, ग्वालेको नमस्कार मन्त्र जपनेका उपदेश दिया, गृहस्थको पूजा प्रभावना आदि कार्यका उपदेश देते है।

जहाँ निश्चय सहित व्यवहारका उपदेश हो वहाँ सम्यग्दर्शनके लिए यथार्थ तत्वोका श्रद्धान कराते है। उनका जो निश्चय स्वरूप है वह भूतार्थ है और व्यवहारस्वरूप उपचार है। ऐसे श्रद्धान सहित स्व-परके भेदज्ञानके द्वारा परद्रव्यमे रागादि छोडनेका उपदेश देते है। ऐसे श्रद्धानसे अरहन्त आदिके सिवा अन्य देवोका मानना स्वयमेव छूट जाता है। तथा रागके मन्द होनेसे श्रावक या मुनिके व्रतोमे प्रवृत्ति होती है। और मन्द रागका भी अभाव होनेपर शुद्धोपयोगकी प्रवृत्ति होनेका निरूपण करते है। इस प्रकार चरणानुयोगमें दो प्रकारसे उपदेश जानना।

## द्रव्यानुयोगकी व्याख्यान पद्धति

अब द्रव्यानुयोगके व्याख्यानकी विधि कहते है—द्रव्यानुयोगमें मोक्षमार्गका श्रद्धान करानेके लिए जीवादि तत्त्वोका विशेष युक्ति हेतु द्वारा कथन करते हैं। स्व-पर भेदज्ञान जिस प्रकार हो उस प्रकारसे जीव अजीवका वर्णन करते हैं। तथा वीतराग भाव जिस प्रकार हो उस प्रकारसे आस्रव आदिका स्वरूप बतलाते हैं। यहाँ मुख्यरूपसे ज्ञान वैराग्यके कारण आत्मानुभव आदिकी महिमा बतलाते हैं। निश्चय अध्यात्म उपदेशकी प्रधानतामे व्यवहार धर्मका भी निषेध करते हैं। जो जीव आत्मानुभवका उपाय न करके बाह्य क्रिया काण्डमे मग्न रहते हैं, उनको उधरसे उदास करके आत्मानुभव आदिमे लगानेको व्रतशील संयम आदिका हीनपना प्रकट करते हैं। यहाँ ऐसा नही जान लेना कि उनको पापमे लगाते हैं। क्योकि ऐसे उपदेशका प्रयोजन पापमें लगानेका नही है। किन्तु शुद्धोपयोगमे लगानेको शुभोपयोगका निषेध करते है।

प्रश्न—अध्यात्मशास्त्रमे पुण्य-पाप समान कहे हैं इसलिए शुद्धोपयोग हो तो अच्छा ही है, न हो तो पुण्यमे लगो या पापमे लगो।

उत्तर—बन्ध कारणकी अपेक्षा पुण्य पाप समान है परन्तु पापसे पुण्य कुछ अच्छा है। पाप तीव्र कषायरूप है, पुण्य मन्द कषाय रूप है। इसलिए पुण्य छोड कर पापमे लगना युक्त नही है। तथा जो जीव जिनबिम्ब भक्ति आदि कार्योंमे ही मग्न हैं उनको आत्मश्रद्धादि करानेको 'देहमे देव है, मन्दिरोमे नही' इत्यादि उपदेश दिया है। इससे ऐसा नही समझ लेना कि भक्ति छुडाते है। इसी प्रकार अन्य व्यवहार आदिके निषेधको पढकर प्रमादी नही होना। जो व्यवहारमे ही मग्न है उनको निश्चयकी रुचि करानेके लिए व्यवहारका निषेध किया है।

द्रव्यानुयोगमे सम्यग्दृष्टिके विषयभोगादिको बन्धका कारण नही कहा, निर्जरा का कारण कहा है। किन्तु इससे भोगोको उपादेय न समझ लेना, जो भोगादि तीव्रबन्धके कारण प्रसिद्ध है उन भोगादिके होनेपर भी श्रद्धान शक्तिके बलसे जो मन्द बन्ध होता है उसे न गिनकर उसीके बलसे निर्जरा विशेष होने लगी, इसलिए उपचारसे भोगोको भी बन्धका कारण न कहकर निर्जराका कारण कहा। यह कथन

सम्यग्दर्शनकी महिमा बतलानेके लिए है। यदि भोग निर्जराके कारण हो तो उन्हें छोड़कर सम्यग्दृष्टि मुनिपद क्यो ग्रहण करे।

तथा द्रव्यानुयोगमें भी चरणानुयोगकी तरह ग्रहण-त्याग करानेका प्रयोजन है। इतना विशेष है कि चरणानुयोगमें तो बाह्य क्रियाकी मुख्यतासे वर्णन है और द्रव्यानुयोगमे आत्म परिणामोकी मुख्यतासे वर्णन है। उदाहरणके लिये–उपयोगके शुभ, अशुभ, शुद्ध ऐसे तीन भेद कहे हैं। धर्मानुराग रूप परिणाम शुभोपयोग है, पापानुराग रूप व द्वेष रूप परिणाम अशुभोपयोग है, और रागद्वेष रहित परिणाम शुद्धोपयोग है। द्रव्यानुयोगमे ऐसा कहा है, किन्तु करणानुयोगमे कषायशक्तिकी अपेक्षा गुणस्थानादिमे सक्लेश विशुद्धपरिणामोकी अपेक्षा कथन है। करणानुयोगमे तो रागादिरहित शुद्धोपयोग यथाख्यात चारित्र होने पर होता है। वह तो मोहके नाश होनेपर स्वयं ही होगा किन्तु नीचेकी अवस्था वाला शुद्धोपयोगका साधन कैसे करे?

तथा द्रव्यानुयोगमें शुद्धोपयोग करनेका ही मुख्य उपदेश है इसलिए वहा छद्मस्थ जीव जब बुद्धिगोचर भक्ति आदि व हिंसा आदि कार्यरूप परिणामोको छोडकर आत्मानुभव आदि कार्योंमे लगता है उस समय उसे शुद्धोपयोगी कहते है। यद्यपि यहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्म रागादि है, तथापि उसकी विवक्षा यहा नही की। अपने बुद्धिगोचर रागादि छोड़ता है इस अपेक्षा उसे शुद्धोपयोगी कहा है।

इसी प्रकार स्वपर का श्रद्धानादि होने पर सम्यक्त्व कहा है, यह बुद्धिगोचर अपेक्षा से कहा है। सूक्ष्म भावो की अपेक्षा गुणस्थानादि मे सम्यक्त्व आदि का कथन करणानुयोग मे पाया जाता है। इस लिये द्रव्यानुयोग के कथनकी विधि करणानुयोगसे मिलानेपर कही तो मिलती है, कही नही मिलती। जैसे यथाख्यात चारित्र होनेपर तो दोनोमे शुद्धोपयोग माना जाता है। परन्तु नीचेकी दशामे द्रव्यानुयोगकी अपेक्षा तो कदाचित् शुद्धोपयोग होता है, परन्तु करणानुयोगकी अपेक्षासे सदा कशायअश के सद्भावसे शुद्धोपयोग नही है।

इस प्रकार चारो अनुयोगोके व्याख्यानका विधान कहा।

## अनुयोगो मे दोष कल्पनाओ का निराकरण

कोई लोग अनुयोगोमें दोष कल्पना करते है उसका निराकरण करते हैं—

प्रथमानुयोगमे दोष कल्पनाका निराकरण—

कितनेही जीव कहते हैं—प्रथमानुपयोगमे श्रृंगारादि व युद्ध आदिका बहुत कथन करते हैं। उसके पढनेमे रागादि बढते हैं अत ऐसा कथन पढना सुनना उचित नही है।

उनको कहते है—सरागी जीवोका मन केवल वैराग्य कथनम नही लगता। इसलिए जैसे बालकको बताशेके आश्रयमे दवा देते है उसी प्रकार सरागीको भोगादिके कथन द्वारा धर्ममें रुचि कराते है। पुराणोका प्रयोजन धर्मही है। उसीका पोषण उनमें है। प्रसगवश शृंगारादिका भी यदि कोई रागी होता है तो वह विरागी कहा होगा। पुराण सुनना छाडकर ऐसा व्यक्ति रागमे ही लगेगा। अत ऐसे व्यक्तिको भी पुराण सुननेमे थोडीबहुत धर्मबुद्धि होती है अत प्रथमानुयोगका पढना सुनना योग्य है।

करणानुयोगमे दोप कल्पनाका निराकरण—

कितने ही जीव कहते है—करणानुयोगम गुणस्थान मार्गणा आदि व कर्म-प्रकृतियोका तथा त्रिलोकादि का कथन है। उसके जाननेम अपना क्या लाभ हुआ इससेतो भक्तिकरे, व्रतदानादि करे या आत्मानुभवन करे तो अपना लाभ है।

उनको उत्तर देते है—जिनेन्द्रदेवतो वीतराग ह, भक्ति करनेसे प्रसन्न होकर कुछ करते नही है। भक्ति करनेसे कषायमन्द होती है सो करणानुयोगके अभ्यासमे उससे भी अधिक मन्दकषाय हो सकती है। इसलिये इसका फल अति उत्तम होता है। करणानुयोगका अभ्यास करनेपर उसमे उपयोग लग जाये तो रागादि दूर होते है। आत्मानुभव सर्वोत्तम काय है परन्तु सामान्य अनुभवमे उपयाग नही टिकता। उपयोग न टिकने पर अन्य विकल्प आते है। यदि करणानुयोगका अभ्यास हो तो उसमें मन को लगाता है इसी तरह जीव कर्मादिको जाननेमे रागादि बढते नही है। वीतराग होनेका प्रयोजन होनेमे रागादि मिटते है।

करणानुयोगमे निरूपित स्वर्गादिकी रचना सुनकर यदि उसमे राग हो तो परलोक सम्बन्धी होगा। उसका कारण पुण्यका जानने पर पापको छोडकर पुण्यमे लगेगा। यह लाभ ही है। द्वीपादिको जाननेपर अन्य मतोके कथनोके झूठा साबित होनेसे सत्य श्रद्धानी होगा। अत करणानुयोगका अभ्यास करना।

चरणानुयोगमें दोष कल्पनाका निराकरण—

कितने ही कहते हैं—चरणानुयोगमें बाह्य व्रतादि साधनका उपदेश है उससे कुछ होता नही। अपने परिणाम निर्मल होने चाहिए।

उनसे कहते हैं—आत्म परिणामो और बाह्य प्रवृतिमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है क्योंकि छद्मस्थ जीवोकी क्रियाये परिणामपूर्वक होती हैं। अथवा बाह्य पदार्थका आश्रय पाकर परिणाम हो सकने हैं। इसलिए परिणाम मिटानेके लिए बाह्य वस्तु-का निषेध समयसार आदिमे कहा है। इसीलिए रागादि भाव घटने पर श्रावक और मुनिधर्म होते है।

यदि बाह्य संयमसे कुछ सिद्धि न हो तो तीर्थंकर आदि गृहस्थपद छोडकर क्यो सयम ग्रहण करते। इसलिए यह नियम है कि बाह्य संयम साधन बिना परिणाम निर्मल नही हो सकते। इसलिए बाह्य सयमके साधनको विधि जाननेके लिए चरणानुयोगका अभ्यास करना चाहिए।

द्रव्यानुयोगमें दोष कल्पनाका निराकरण—

कितने ही जीव कहते हैं—द्रव्यानुयोगमे व्रत सयमादि व्यवहार धर्मको हीन कहा है। सम्यग्दृष्टिके भोगादिको निर्जराका कारण कहा है, यह सब सुनकर जीव स्वच्छन्द हो, पुण्य कार्योंको छोड पाप कार्योंमें प्रवृत्त होगे, इसलिए इसका पढ़ना-सुनना योग्य नही है।

उनसे कहते है—अध्यात्म सुनकर यदि कोई स्वच्छन्द हो तो ग्रन्थका दोष नहीं है, उस जीवका ही दोष है। मोक्षमार्गका मूल उपदेश तो अध्यात्म ग्रन्थोमें ही है, उनका निषेध करने-से तो मोक्षमार्गका ही निषेध होता है। अध्यात्म उपदेश न होने पर बहुत जीवोको मोक्षमार्गकी प्राप्तिका अभाव होगा और इससे बहुत जीवोंका अकल्याण होगा। इसलिए अध्यात्म उपदेशका निषेध नही करना चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं कि द्रव्यानुयोग रूप अध्यात्मका उपदेश बहुत ऊँचा है, अत उच्च दशाको प्राप्त जीवोके लिए ही उपयोगी है। नीचेकी दशा वालोको तो व्रत सयम आदिका उपदेश देना ही योग्य है।

उनसे कहते है—जिन मतमें यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है पीछे व्रत होते हैं। और सम्यक्त्व स्व और परका श्रद्धान होनेपर होता है और वह

श्रद्धान द्रव्यानुयोगका अभ्यास करने पर होता है। इसलिए प्रथम द्रव्यानुयोगके अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिए। पीछे चरणानुयोगके अनुसार व्रतादि धारण करके व्रती होना चाहिए। इस प्रकार नीचेकी दशामें मुख्य रूपसे द्रव्यानुयोग है। गौणरूपसे जिसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती न जाने उसे पहले व्रतादि का उपदेश देते हैं। इसलिए ऊँची दशा वालोंको अध्यात्मका अभ्यास योग्य है ऐसा जानकर नीचेकी दशा वालोंको उससे विमुख करना योग्य नहीं है।

यदि कहोगे कि यह काल निकृष्ट है इसलिए इस कालमें उत्कृष्ट अध्यात्म उपदेशकी मुख्यता ठीक नहीं है तो उनसे कहते हैं कि यह काल साक्षात् मोक्ष न होनेकी अपेक्षा निकृष्ट है। आत्मानुभव आदिके द्वारा सम्यक्त्व आदिके होनेका इस कालमें निषेध नहीं है। इसलिए आत्मानुभव आदिके लिए द्रव्यानुयोगका अभ्यास करना चाहिए। मोक्षपाहुड़में कहा है—

अज्जवि तिरयण सुद्धा अप्पा झाऊण जंति सुरलोए।
लोयंतियदेवत्त तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति॥ ७७॥

अर्थ—आज भी तीन रत्नोंसे शुद्ध जीव आत्माका ध्यानकर स्वर्गलोकको जाते हैं। और लौकान्तिक देव होते हैं। वहाँसे च्युत होकर मोक्ष जाते हैं।

## तृतीय अधिकार

# संसार अवस्थाका स्वरूप

रत्नकरण्ड श्रावकाचार के प्रारम्भ मे कहा है—

> देशयामि समीचीन धर्मं कर्मनिबर्हणम् ।
> ससारदु खत सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ।।२।।

'मैं कर्म बन्धनमे छुटकारा दिलाने वाले समीचीन धर्मका उपदेश करता हूँ जो प्राणियोको ससारके दु खोसे छुडाकर उत्तम सुखमे धरता है।'

इससे यह स्पष्ट होता है कि ससारमे दु ख है और उस दु खका कारण कर्म-बन्धन है। तथा उस कर्मबन्धनको जो काटता है वही समीचीन (सच्चा) धर्म है। अत उस धर्मका वर्णन करनेसे पहले कर्मबन्धनका कथन किया जाता है।

जैसे वैद्य रोगी मनुष्यको प्रथम तो रोगका निदान बतलाता है कि इस प्रकार यह रोग हुआ। फिर उस रोगके निमित्तसे उसकी जो जो अवस्था होती हो वह बतलाता है। उससे रोगीको यह निश्चय हो जाता है कि मुझे ऐसा ही रोग है। फिर उस रोगको दूर करनेके उपाय बतलाता है। वैद्यका तो इतना ही काम है। यदि वह रोगी वद्यके अनुसार करता है तो रोगसे मुक्त हो जाता है।

उसी प्रकार यहा कर्मबन्धनमे पडे ससारी जीवको प्रथम तो कर्मबन्धनका निदान बतलाते हैं कि यह कर्मबन्धन ऐसे हुआ। फिर उस कर्मबन्धनके निमित्तसे उसकी जो जो अवस्था होती है वह बतलाते हैं। उससे जीवको यह निश्चय हो जाता है कि मुझे ऐसा हो कर्मबन्धन है। फिर उस कर्मबन्धनसे दूर होनेका उपाय बतलाते हैं। इतना तो शास्त्रका कार्य है। यदि यह जीव उसका पालन करता है तो कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है, यह जीवका कार्य है।

अत प्रथम ही कर्मबन्धनका निदान बतलाते हैं—

कर्मबन्धन सहित अवस्थाका नाम ससार है। उस संसारमें अनन्तानन्त जीव हैं जो अनादिसे कर्मबन्धनसे बद्ध है। ऐसा नही है कि पहले जीव और कर्म दोनों जुदे-जुदे थे, पीछे उनका संयोग हुआ।

प्रश्न—पुद्गल परमाणु तो रागादिके निमित्तसे कर्मरूप होते हैं वे अनादि कर्म कैसे हैं ?

समाधान—निमित्त तो नवीन कार्य में होता है, अनादि अवस्था मे निमित्त का कुछ प्रयोजन नही। यदि अनादिमे भी निमित्त माने तो अनादिपना नही रहता। इसलिये कर्म बन्धन को अनादि मानना।

प्रवचन सार की टीका में कहा है—रागादि का कारण तो द्रव्य कर्म है और द्रव्य कर्म का कारण रागादि है तो इसमे तो इतरेतराश्रय दोष आता है क्योंकि रागादि द्रव्यकर्मके आश्रित और द्रव्यकर्म रागादिके आश्रित। इसका उत्तर दिया है—

"नहि अनादि प्रसिद्ध द्रव्य कर्माभि सम्बद्धस्यात्मन.
प्राक्तनद्रव्यकर्मण स्तत्र हेतुत्वेनोपादानात्"

—प्रव टी गा १२१

अर्थ—ऐसा नही है क्योंकि अनादि काल से द्रव्य कर्मा से वधे आत्मा के पूर्वबद्ध द्रव्य कर्मोंको कारण रूपसे ग्रहण किया है।

ऐसा आगम में कहा है तथा युक्ति से भी ऐसा ही सिद्ध होता है क्योंकि कर्म के निमित्त बिना पहले जीव के रागादि हुए कहे जायें तो रागादि जीव का स्वभाव हो जाये क्योंकि परनिमित्तके बिना जो हो उसीका नाम स्वभाव है।

अत कर्म बन्धनको अनादि ही मानना।

प्रश्न—जो द्रव्य जुदे जुदे हैं उनका सम्बन्ध अनादि से कैसे सम्भव है ?

समाधान—जैसे खान से निकले सोने मे प्रारम्भ से ही किट्टिक मिली होती है वैसे ही अनादिसे जीव और कर्मका सम्बन्ध जानना।

प्रश्न—सम्बन्ध अथवा सयोग कहना तो तब सम्भव है जब पहले भिन्न हो, पीछे, मिले। अनादिसे मिले जीव कर्मोंका सम्बन्ध कैसे कहा जाता है ?

समाधान—अनादि से मिले होने पर भी जब भिन्न होते हैं तब यह जाना जाता है कि ये भिन्न थे। इससे उनका बन्धन होने पर भी भिन्नपना पाया जाता है

तथा उस भिन्नताकी अपेक्षा दोनोंका सम्बन्ध या संयोग कहा जाता है।

इस प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि है।

## जीव और कर्मों की भिन्नता

जीवद्रव्य तो जानने देखने रूप चेतना गुणवाला है इन्द्रिय गम्य नहीं है, सकोच विस्तारकी शक्तिके साथ असख्यात प्रदेशी एक द्रव्य है। तथा कर्म जड है मूर्तिक है, अनन्त पुद्गल परमाणुओका पिण्ड रूप है। इनका अनादि सम्बन्ध होनेपर भी जीव का कोई प्रदेश कर्मरूप नही होता और न कर्मका कोई परमाणु जीवरूप होता है। दोनों अपने अपने स्वरूपको धारण किये हुए भिन्न भिन्न ही रहते हैं।

## कर्मों के भेद और उनका कार्य

कर्मके मूल भेद आठ हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमेसे चार कर्म घातिया हैं। उनके निमित्तसे जीवके स्वभावका घात होता है। ज्ञानावरण और दर्शनावरणके निमित्तसे जीवके ज्ञान दर्शन रूप स्वभावका घात होता है। इनके क्षयोपशमके अनुसार किञ्चित ज्ञान दर्शन व्यक्त रहते हैं। मोहनीयके उदयसे जीवमें मिथ्या श्रद्धान और क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय जो सम्यक्त्व और चारित्र गुणके विकार हैं व्यक्त रहते हैं। अन्त-राय कर्मके उदयसे जीवके अनन्तवीर्य गुणका घात होता है। उसके क्षयोपशमके अनुसार किञ्चित शक्ति व्यक्त रहती है।

इस प्रकार घातिया कर्मोंके निमित्तमे जीवके स्वभावका घात अनादिसे हुआ है।

प्रश्न—घात नाम तो अभावका है। सो जिसका पहले सद्भाव हो उसका अभाव कहा जाता है। किन्तु जीवमे स्वभावका सद्भाव तो है नही, तब घात किसका ?

समाधान—जीवमे अनादि हीसे ऐसी शक्ति पाई जाती है कि कर्मका निमित्त न हो तो केवलज्ञान आदि अपने स्वभाव रूपमे रहे। परन्तु अनादि हीसे कर्मका बन्धन होनेसे उनकी व्यक्ति नही होती। अत शक्ति की अपेक्षा स्वभाव है और उसको व्यक्त न होने देनेकी अपेक्षा घात है।

तथा चार कर्म अघातिया हैं उनके निमित्तसे इस आत्माको बाह्य सामग्रीका सम्बन्ध मिलता है। वेदनीयसे नानाप्रकार सुख दुःखके कारण परद्रव्योका संयोग

बनता है। आयुके निमित्तसे अपनी स्थिति पर्यन्त प्राप्त शरीरका सम्बन्ध नही छूटता। नाम कर्मके उदयसे गति जाति शरीर आदि उत्पन्न होते हैं। और गोत्र कर्मसे उच्च नीच कुलकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न—कर्म तो जड है, बलवान नही हैं। उनसे जीवके स्वभावका घात व बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति कैसे सम्भव है?

समाधान—यदि कर्म स्वय कर्ता होकर जीवके स्वभावका घात करे, बाह्य सामग्री मिलावे तब तो कर्मके चेतनपना और बलवानपना चाहिए। सो तो है नही दोनोमे स्वाभाविक निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। उन कर्मोंके उदयमे जीव स्वय ही विभाव रूप परिणमन करता है तथा अन्य द्रव्य वैसेही सम्बन्ध रूप होकर परिणमन करते है।

## नवीन बन्ध विचार

मोहनीय कर्मके निमित्तसे जीवको जो अयथार्थ श्रद्धान रूप मिथ्यात्व भाव होता है तथा क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय होते हैं, जीवही उनका कर्ता है, जीवके परिणमन रूपही वे है। वे जीवके निज स्वभाव नही है, मोहनीय कर्मके निमित्तसे ही वे होते हैं उन भावो द्वारा नवीन बन्ध होता है। इसलिये मोहके उदयसे उत्पन्न भाव ही नवीनबन्धके कारण है।

## योगसे प्रकृतिबन्ध-प्रदेशबन्ध

नाम कर्मके उदयसे शरीर वचन मन उत्पन्न होते हैं उनकी चेष्टाके निमित्तमे आत्माके प्रदेशोमें हलन चलन होता है। उसका नाम योग है। उसके निमित्तसे प्रतिसमय कर्म रूप होने योग्य अनन्त परमाणुओका ग्रहण होता है। यदि अल्प योग होता है तो थोडे परमाणुओका ग्रहण होता है और बहुत योग हो तो बहुत परमाणुओका ग्रहण होता है। इस तरह एक समयमे जितने परमाणुओका ग्रहण होता है उनका बन्धको प्राप्त ज्ञानावरण आदि मूल कर्मोंमे तथा उनकी उत्तर प्रकृतियोमे बटवारा हो जाता है।

इस प्रकार योगके निमित्तसे नवीन कर्मोंका आगमन होता है इसलिये योगको आस्रव कहा है। तथा उसके द्वारा ग्रहण हुए कर्म परमाणुओका नाम प्रदेश हैं उनका

बन्ध हुआ तथा उनका मूल कर्मोंमें और उनकी उत्तर प्रकृतियोंमें विभाग हुआ। इसलिये योग द्वारा प्रदेश बन्ध और प्रकृति बन्ध हुआ जानना।

## कषायसे स्थिति और अनुभाग बन्ध

मोहके उदयसे मिथ्यात्व और क्रोधादि भाव होते हैं उन सबका नाम सामान्यत कषाय है। उससे कर्मोंकी स्थिति बँधती है। जितनी स्थिति बंधती है उसमे आबाधाकालको छोडकर पीछे जब तक बधी हुई स्थिति पूर्ण हो तब तक प्रति समय उस प्रकृतिका उदय आता रहता है। देव मनुष्य और तिर्यञ्चायुके बिना शेष सब प्रकृतियोका अल्प कषाय होनेपर थोडा स्थिति बन्ध होता है और बहुत कषाय होने पर बहुत स्थितिबन्ध होता है। किन्तु इन तीनो आयुका अल्प कषायसे बहुत और बहुत कषायसे अल्पस्थिति बन्ध होता है।

तथा उस कषाय द्वारा ही उन कर्म प्रकृतियोंमे अनुभाग बन्ध होता है। जैसे अनुभाग बन्ध होता है वैसा ही उन प्रकृतियोका उदयकाल आने पर थोडा या बहुत फल होता है। यहाँ घाति कर्मोंकी सब प्रकृतियोमे तथा अघाति कर्मोंकी पाप प्रकृतियोंमें अल्प कषाय होनेपर अल्प अनुभाग बन्ध होता है और बहुत कषाय होनेपर बहुत अनुभाग बन्ध होता है। किन्तु पुण्य प्रकृतियोमे अल्प कषाय होने पर बहुत अनुभाग बधता है। और बहुत होने पर थोडा अनुभाग बधता है। इस प्रकार कषायो द्वारा कर्म प्रकृतियोमे स्थिति बन्ध अनुभाग बन्ध होता है।

प्रश्न—पुद्गल परमाणु तो जड है उन्हे कुछ ज्ञान नही हैं तब वे कैसे यथा योग्य प्रकृति रूप परिणमन करते हैं ?

समाधान—जैसे भूख होनेपर मुख द्वारा खाया गया भोजन रूप पुद्गल पिण्ड मास, वीर्य, खून आदि रूप परिणमन करता है उसी प्रकार योग द्वारा ग्रहण किया कर्म वर्गणारूप पुद्गल पिण्ड ज्ञानावरण आदि प्रकृति रूप परिणमित होता है। ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक भाव है।

## कर्मो की अवस्थाएँ

जो परमाणु कर्म रूप परिणमित हुए हैं उनका जब तक उदय काल न आवे तब तक जीवके प्रदेशोंके साथ एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध रहता है इसे सत्ता दशा

कहते हैं। और उदयकाल आने पर फल देना उदय दशा है। यहाँ इतना जानना कि एक समयमें बंधे हुए परमाणु आबाधा कालको छोडकर अपनी स्थितिके जितने समय हो उनमें क्रमसे उदयमे आते हैं, तथा अनेक समयोंमें बधे परमाणु, जो कि एक ही समयमें उदय आने योग्य होते हैं वे इकट्ठे होकर उदयमें आते हैं।

इस प्रकार कर्मोंकी बन्ध, उदय और सत्ता रूप अवस्था जानना।

## द्रव्य कर्म और भाव कर्म का स्वरूप

परमाणु रूप अनन्त पुद्गलोंके पिण्डको द्रव्य कर्म कहते हैं। तथा मोहके निमित्त से मिथ्यात्व क्रोधादि रूप जीवके परिणामोको भाव कर्म कहते हैं। द्रव्य कर्मके निमित्तसे भाव कर्म होते हैं और भाव कर्मके निमित्तसे द्रव्य कर्म होते हैं। इसीप्रकार परस्परमें कार्य कारण भाव होनेसे ससार चक्रमे परिभ्रमण होता है।

●

# चतुर्थ अधिकार

## संसार अवस्थाके मूल कारण

रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें कहा है—

**सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।**

**यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ ३ ॥**

अर्थ—धर्मेश्वर जिनेन्द्रदेव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म जानते है जिनके उल्टे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र ससारके कारण हैं।

अत ससारके इन कारणो पर प्रकाश डाला जाता है—

### मिथ्यादर्शन का स्वरूप

यह जीव अनादिसे कर्मसम्बन्ध सहित है। उसके दर्शन मोह कर्मके उदयसे जो अतत्त्व श्रद्धान होता है उसका नाम मिथ्यादर्शन है। जो श्रद्धान करने योग्य अर्थ है उसका जो भाव अर्थात् स्वरूप उसका नाम तत्त्व है। जो तत्त्व नही वह अतत्त्व है। अत जो अतत्त्व है वह असत्य है। उसीका नाम मिथ्या है। तथा 'यह ऐसा ही है' इस प्रकारकी प्रतीतिका नाम श्रद्धान है। यद्यपि दर्शन शब्दका अर्थ देखना है तथापि यहाँ उसका अर्थ श्रद्धान लिया है। तत्त्वार्थसूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धिमे ऐसा ही कहा है, क्योकि देखना ससार मोक्षका कारण नही है। श्रद्धान ही संसार मोक्षका कारण है।

अत मिथ्या रूप जो दर्शन अर्थात् श्रद्धान है उसका नाम मिथ्या दर्शन है। जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा नही मानना और जैसा वस्तुका स्वरूप नही है वैसा मानना मिथ्या दर्शन है।

प्रश्न—केवलज्ञानके बिना सब पदार्थोका यथार्थ बोध नही होता और उसके बिना यथार्थ श्रद्धान नही होता तब मिथ्या दर्शनका त्याग कैसे हो ?

समाधान—पदार्थोका जानना, न जानना अन्यथा जानना तो ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके अनुसार होता है तथा प्रतीति जानने पर ही होती है यह सत्य

है। जीवको जिन पदार्थोंसे प्रयोजन नही है उन्हे यदि अन्यथा जाने, या यथार्थ जाने तथा जैसा जाने वैसा श्रद्धान करे तो इसमे उसका कुछ भी बिगाड या सुधार नही होता। किन्तु जिनसे प्रयोजन होता है उन्हे यदि अन्यथा जाने और वैसा ही श्रद्धान करे तो बिगाड होता है इसलिये उसे मिथ्या दृष्टि कहते है। तथा यदि उन्हे यथार्थ जाने और वैसा ही श्रद्धान करे तो सुधार होता है इसलिये उसे सम्यग्दृष्टि कहते है। तथा प्रयोजन भूत जीवादि तत्त्वोंको जानने योग्य ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम सब सज्ञी पचेन्द्रियो के होता है। परन्तु तदनुसार ही श्रद्धान सबको नही होता। द्रव्यलिगी मुनि ग्यारह अंगों तकके पाठी होते हैं उनके ज्ञानावरणका क्षयोपशम बहुत होने पर भी प्रयोजन भूत जीवादिका श्रद्धान नही होता। और तिर्यञ्चादिको ज्ञानावरणका थोडा क्षयोपशम होनेपर भी प्रयोजन भूत जीवादिका श्रद्धान होता है इसलिये जाना जाता है कि इसका कारण अन्य कर्म है और वह दर्शन मोह है। उसके उदयसे जीवके मिथ्यादर्शन होता है और वह प्रयोजन भूत जीवादि तत्त्वों का अन्यथा श्रद्धान करता है।

अब प्रश्न होता है कि प्रयोजन भूत और अप्रयोजन भूत पदार्थ कौन है ?

सो इस जीवका प्रयोजन तो संसारके दु खमे छुटकारा है और इस प्रयोजनकी सिद्धि जीवादिके यथार्थ श्रद्धानसे होती है। और उसके लिए स्व और परका ज्ञान अवश्य होना चाहिए तथा स्व और परका ज्ञान जीव अजीवका ज्ञान होने पर ही होता है क्योकि आप स्वय जीव है और शरीरादि अजीव है।

तथा दु खका कारण कर्म बन्धन है और उसका कारण मिथ्यात्व आदि आस्रव भाव हैं। इनको जाने बिना उनसे मुक्त होनेका उपाय नही किया जा सकता। अत आस्रव और बन्धका जानना जरूरी है। तथा आस्रवका रोकनेका नाम सवर है। उसका स्वरूप न जाने तो उसे कैसे करे। इसलिए सवरको जानना चाहिये। बधे हुए कर्मोंका एक देशसे क्षय होनेका नाम निर्जरा है। यदि उसे न जाने तो कर्म बन्धनसे छुटकारा कैसे करे। इसलिये निर्जराको भी जानना चाहिए। तथा सर्व कर्म बन्धनका सर्वथा अभाव होना मोक्ष है यदि उसे न जाने तो उसका उपाय कैसे करे। इसलिये मोक्षको जानना चाहिये। इस प्रकार जीवादि सात तत्त्व प्रयोजनीभूत

जानना चाहिये। शास्त्रादिके द्वारा इन्हें जानकर भी, ये ऐसे ही हैं ऐसी प्रतीति यदि न हो तो जानने से भी लाभ नही है। इसलिए उनका श्रद्धान करना ही कार्यकारी है। जीवादि तत्त्वोका सत्य श्रद्धान करने पर ही दु खोसे छुटकारे रूप प्रयोजनकी सिद्धि होती है। इनके अतिरिक्त अन्य पदार्थ अप्रयोजनीभूत है।

प्रश्न—जीव और अजीवमे तो सभी पदार्थ आ गये उनके सिवा अप्रयोजनीभूत अन्य पदार्थ कौन रहे ?

समाधान—पदार्थ तो सब जीव अजोवमे गर्भित है परन्तु उनके विशेष बहुत हैं। उनमे से जिन विशेषों सहित जीव अजीवका यथार्थ श्रद्धान करनेसे स्व और परका श्रद्धान हो, रागादि दूर करनेका श्रद्धान हो, उन विशेषो सहित जीव अजीव पदार्थ प्रयोजनभूत होते हैं। जैसे जीवके चैतन्यका और शरीरके जड होने का श्रद्धान प्रयोजनभूत है। और मनुष्यादि पर्यायोंका श्रद्धान अप्रयोजनभूत है। इस प्रकार ऊपर कहे प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोका श्रद्धान न करने या अयथार्थ श्रद्धान करनेका नाम मिथ्यादर्शन है।

अब ससारी जीवोके मिथ्या दर्शनकी प्रवृत्ति कैसे पाई जाती है यह कहते हैं। यहाँ वर्णन तो श्रद्धानका करना है परन्तु जाननेके बिना श्रद्ध न होता नही है इस लिये जानने को मुख्यतासे वर्णन करते हैं—

### जीव अजीव तत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान—

अनादिकालसे जीव कर्मके निमित्तसे अनेक पर्याय धारण करता है वह पर्याय एक तो स्वय जीव और पुद्गल परमाणुमय शरीरके मेलसे बनती है। उस पर्यायमें जीवको 'यह मै हूँ' ऐसी बुद्धि होती है। किन्तु जीवका स्वभाव तो ज्ञानादि रूप है क्रोधादि विभाव रूप है, और शरीर पुद्गल परमाणुओसे बना है जो रूप रस गध स्पर्श गुण वाले हैं। उन सबको अपना स्वरूप मानता है।

तथा जीव और शरीरमे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसलिये उसमें जो क्रिया होती है उसे अपनी मानता है शरीरके कृश होने पर अपनेको कृश मानता है, स्थूल होने पर अपनेको स्थूल मानता है। शरीरके जन्मको अपना जन्म और शरीरके छूटनेको अपना मरण मानता है। शरीरकी अपेक्षा प्राप्त होने वाले गति, कुल, वर्ण

आदिको अपना मानकर मैं मनुष्य हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हू इत्यादि रूप मानता है तथा शरीरकी अपेक्षा अन्य मनुष्योंसे अपना नाता मानता है जिनके द्वारा शरीर उत्पन्न हुआ उन्हें माता पिता मानता है जो अपने शरीरसे उत्पन्न हुआ उन्हें पुत्र मानता है।

इस प्रकारसे अपनेको और शरीरको एकही मानता है। इसका कारण यह है कि संसारी जीवको इन्द्रिय जन्य ज्ञान होता है। इन्द्रियोंसे स्वय अपनी आत्माको तो जान नही सकता, क्योकि आत्मा अमूर्तिक है। परन्तु शरीरके मूर्तिक होनेसे इन्द्रियोंसे उसीका ज्ञान होता है इसलिये उसीमे अह बुद्धि करता है। इस प्रकार मिथ्या दर्शनसे शरीरादिका स्वरूप अन्यथा ही भासित होता है। इस प्रकार जीव अजीव तत्त्वका अयथार्थ ज्ञान होनेसे मिथ्या श्रद्धान होता है।

आस्रव और बन्ध तत्त्व सम्बन्धी मिथ्या श्रद्धान—

मन वचन कायके योगसे नवीन कर्मोंके आनेका नाम आस्रव है। तथा आत्मा के मिथ्यात्व कषायादि भावोका निमित्त पाकर आत्माके साथ उन नवीन कर्मोका एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होना बन्ध है। किन्तु यह जीव मोहके उदयसे होने वाले मिथ्यात्व कषायादि भावोको अपना स्वभाव मानता है। और जीव, अजीवका भेद-ज्ञान न होनेसे मन वचन कायको आत्मा ही मानता है अत उनपर कोई नियत्रण नही रखता। कर्मोका उदय होनेपर, ज्ञान दर्शनका हीन होना, मिथ्यात्व कषाय रूप परिणाम होना, इच्छित वस्तुका प्राप्त न होना, जन्म मरण आदिका होना पाया जाता है। परन्तु उसे वह जानता ही नही है उनके होनेमे या तो वह अपनेको कर्ता मानता है या दूसरोको कर्ता मानता है।

इस प्रकार आस्रव और बन्ध तत्त्वका उसे ज्ञान ही नही है तब श्रद्धान तो मिथ्या होगा ही।

संवर तत्त्व सम्बन्धी मिथ्या श्रद्धान—

आस्रवको रोकनेका नाम संवर है। सो जब आस्रवको ही यथार्थ रूपमे नही जानता तब संवरका यथार्थ श्रद्धान कैसे हो सकता है। तथा अनादिसे इस जीवके आस्रव भाव ही हुआ है संवर कभी नही हुआ। तब संवरको कैसे जाने? इसीसे यह जीव आस्रवको रोकनेका प्रयत्न न करके जिन पदार्थोको दु ख दायक मानता

हैं उनको ही रोकनेका प्रयत्न करता है, परन्तु वे अपने अधीन नही हैं इसलिये दु:खी होता है।

निर्जरा तत्त्व सम्बन्धी मिथ्या श्रद्धान—

बद्ध कर्मोंके एक देश क्षयका नाम निर्जरा है सो जब बन्धको ही नहीं पहचानता तब निर्जराको कैसे पहचाने।

मोक्ष तत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान—

समस्त कर्म बन्धके अभावका नाम मोक्ष है। जो कर्म बन्धको और कर्म बन्ध जनित दु:खोको नही जानता उसे मोक्षका यथार्थ श्रद्धान कैसे हो सकता है।

इस प्रकार यह जीव मिथ्यादर्शनके कारण प्रयोजन भूत जीवादि सात तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान न होनेसे यथार्थ श्रद्धान नही करता।

पुण्य पाप सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान—

पुण्य और पापकी एकही जाति है क्योंकि दोनो कर्म बन्ध रूप हैं। फिर भी यह जीव पुण्यको भला और पापको बुरा मानता है। क्योकि पुण्यसे अपनी इच्छानुसार कुछ कार्य बन जाते हैं और पापसे नही बनते। परन्तु दोनो ही आकुलताके कारण होनेसे बुरे है। इसलिये पुण्य पापके उदयको भला बुरा मानना भ्रम है।

इस प्रकार अतत्त्व श्रद्धान रूप मिथ्या दर्शनका स्वरूप कहा।

## मिथ्याज्ञानका स्वरूप

अब मिथ्याज्ञानका स्वरूप कहते हैं—प्रयोजन भूत जीवादि तत्त्वोको अयथार्थ जाननेका नाम मिथ्याज्ञान है। अप्रयोजन भूत पदार्थोंको यथार्थ जाने या अयथार्थ जाने उसकी अपेक्षा मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम नही है। क्योंकि अप्रयोजनीभूत पदार्थोंका ज्ञान मोक्ष मार्गमें उपयोगी नही है। अत: यहाँ प्रयोजनीभूत जीवादि तत्त्वोको ही जाननेकी अपेक्षा सम्यग्ज्ञान कहा है। इसी अभिप्रायसे सिद्धान्तमें मिथ्यादृष्टिके जाननेको मिथ्याज्ञान और सम्यग्दृष्टिके जाननेको सम्यग्ज्ञान कहा है।

प्रश्न—मिथ्याज्ञानका कारण कौन है ?

समाधान—मोहके उदयसे जो मिथ्यात्व भाव होता है, सम्यक्त्व नही होता वही इस मिथ्या ज्ञानका कारण है। मिथ्यात्वके सम्बन्धसे ज्ञान मिथ्याज्ञान कहाता है।

प्रश्न—इसमें ज्ञानावरणको निमित्त क्यों नही कहते ?

समाधान—ज्ञानावरणके उदयसे तो ज्ञानके अभाव रूप अज्ञानभाव होता है। तथा उसके क्षयोपशमसे किंचित् ज्ञान रूप मति आदि ज्ञान होते हैं। यदि इनमेंसे किसीको मिथ्याज्ञान और किसीको सम्यग्ज्ञान कहें तो ये दोनो ही मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके पाये जाते हैं। इसलिये उन दोनोंके मिथ्याज्ञान तथा सम्यग्ज्ञान का सद्भाव हो जायेगा और यह सिद्धान्त विरुद्ध है। इसलिये इसमें ज्ञानावरणका निमित्त नही बनता।

प्रश्न—रस्सी, सर्प आदिके यथार्थ और अयथार्थ ज्ञानका कारण कौन है ? उस ही को जीवादि तत्वोके यथार्थ अयथार्थ ज्ञानका कारण कहो ?

उत्तर—जाननेमे जितना अयथार्थपना होना होता है उतना तो ज्ञानावरणके उदयसे होता है। और जो यथार्थपना होता है वह ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है। जीवादि तत्वोको यथार्थ जाननेकी शक्ति होने या न होनेमें तो ज्ञानावरणका ही निमित्त है। परन्तु जिसके मिथ्यात्वका उदय होता है वह अप्रयोजनीभूतको तो जानता है प्रयोजनीभूतको नही जानता। यदि प्रयोजनीभूतको जाने तो सम्यग्दर्शन हो जाये परन्तु वह मिथ्यात्वका उदय रहते हो नही सकता इसलिये प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत पदार्थोंको जाननेमे ज्ञानावरणका निमित्त नही है, उसमे मिथ्यात्वका उदय ही निमित्त है।

यहाँ ऐसा जानना कि जिन एकेन्द्रिय आदि जीवोमे जीवादि तत्वोको यथार्थ जाननेकी शक्ति ही न हो वहाँ तो ज्ञानावरणका उदय और मिथ्यात्वके उदयसे हुआ मिथ्यादर्शन इन दोनोका निमित्त है। तथा जिन सज्ञी मनुष्यादिकमे ज्ञानावरणका क्षयोपशमादि होनेमे शक्ति होने पर भी नही जानते वहाँ मिथ्यात्वका उदय ही निमित्त है। इसलिये मिथ्याज्ञानका मुख्य कारण ज्ञानावरणको न कहकर मोहके उदयसे हुए मिथ्याभावको ही कारण कहा है।

प्रश्न—ज्ञान होने पर श्रद्धान होता है इसलिये पहले मिथ्याज्ञान कहो, बाद मे मिथ्यादर्शन कहो।

उत्तर—है तो ऐसा ही, जाने बिना श्रद्धान नहीं होता, परन्तु मिथ्या और सम्यक् ऐसी सज्ञा ज्ञानको मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शनके निमित्तसे होती है इसलिये

जहाँ सामान्य रूपसे ज्ञान-श्रद्धानका कथन हो वहाँ तो ज्ञानको पहले कहना श्रद्धान को बादमे कहना। तथा जहाँ मिथ्या और सम्यक् ज्ञान श्रद्धानका कथन हो वहाँ श्रद्धानको पहले और ज्ञानको बादमें कहना।

प्रश्न—ज्ञान श्रद्धान तो एक साथ होते है उनमें कारण कार्यपना कैसे है ?

उत्तर—जैसे दीपक और प्रकाश एक साथ होते हैं तथापि दीपकके होने पर ही प्रकाश होता है इसलिये दीपक कारण है प्रकाश कार्य है उसी प्रकार ज्ञान और श्रद्धानको भी जानना।

प्रश्न—मिथ्या दर्शनके सयोगसे ही ज्ञान मिथ्या कहाता है। अत एक मिथ्या दर्शनको ही ससारका कारण कहना चाहिये, मिथ्या ज्ञानको अलगसे क्यो कहा ?

उत्तर—ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे हुए मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके ज्ञानमें अन्तर नही है। परन्तु मिथ्यादर्शनके निमित्तसे यह ज्ञान अप्रयोजनीभूत बातोमे तो लगता है परन्तु प्रयोजनभन जीवादि तत्त्वोके यथार्थ निर्णय करनेमे नही लगता सो इस दोषके कारण उमे मिथ्याज्ञान कहते है। तथा जीवादि तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान न होना श्रद्धानमे दोष है। इमे मिथ्यादर्शन कहा है। इम तरह लक्षण भेदमे दोनोको भिन्न कहा है। ये दोनो ही मसारके कारण हैं। इस प्रकार मिथ्याज्ञानका स्वरूप कहा। इसीको तत्वज्ञानके अभावमें अज्ञान और अपना प्रयोजन न साधनेपर कुज्ञान कहते हैं।

## मिथ्याचारित्रका स्वरूप

अब मिथ्याचारित्रका स्वरूप कहते हैं—

चारित्र मोहके उदयसे जो कषाय भाव होता है उसका नाम मिथ्याचारित्र है। यह कषाय भाव पदार्थोंको इष्ट अनिष्ट माननेपर होता है। सो इष्ट अनिष्ट मानना भी मिथ्या है क्योकि कोई पदार्थ इष्ट अनिष्ट नही है यदि पदार्थोंमे इष्ट अनिष्ट-पना होता तो जो पदार्थ इष्ट होता वह सभीको इष्ट ही होता और जो अनिष्ट होता वह सबको अनिष्ट ही होता। परन्तु ऐसा है नही। यह जीव कल्पना द्वारा उन्हें इष्ट अनिष्ट मानता है सो यह कल्पना झूठी है।

एक जवको एकही पदार्थ किसी समय इष्ट लगता है, किसी समय अनिष्ट लगता है। जैसे शरीर इष्ट है परन्तु रोगादि सहित होनेपर अनिष्ट हो जाता है।

तथा इष्टसे राग करता है और अनिष्टसे द्वेष करता है इस प्रकार पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि होने पर जो राग द्वेष होते हैं उसका नाम मिथ्याचारित्र है तथा इन राग द्वेषोंके ही भेद-क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद नपुसकवेद, पुरुषवेद रूप कषाय भाव हैं ये सब इस मिथ्याचारित्रके ही भेद हैं इसीको असंयम और अविरति भी कहते हैं क्योकि पांच इन्द्रियों और मनके विषयोंमें तथा त्रस आदि छह कायके जीवोकी हिंसामें स्वेच्छाचार पूर्वक प्रवृत्ति होनेसे बारह प्रकारका असंयम या अविरति होती है। इसीका नाम अव्रत है क्योकि हिंसा, झूठ बोलना, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाप कार्योंमे प्रवृत्तिका नाम अव्रत है। इसका मूल कारण प्रमत्त योग है। यह प्रमत्त योग कषाय भाव है।

इस प्रकार ससारी जीवके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणाम अनादिसे पाये जाते हैं।

## पंचम अधिकार

# कुदेव, कुगुरु व कुधर्मका निरूपण एवं उनका निषेध

जीवोके अनादिसे जो मिथ्यादर्शन आदि भाव पाये जाते हैं उनका कारण कुदेव, कुगुरु और कुधर्मका सेवन है। उनको त्यागने पर ही समीचीन धर्ममे प्रवृत्ति होती है इसलिये उनका निरूपण करते हैं।

### कुदेवका निरूपण तथा निषेध

बहुतसे जीव इस पर्याय सम्बन्धी शत्रुनाशादि व रोगादि मिटाने, धन पुत्र आदि की प्राप्तिके लिये कुदेवादिका सेवन करते है। यह सब मिथ्यात्वकी ही महिमा है।

प्रश्न—क्षेत्रपाल पद्मावती आदि जो जिनमतको मानते हैं उनके पूजनादिमें क्या दोष है?

उत्तर—जिनमतमे संयम धारण करनेसे पूज्यपना होता है। और देवोंके संयम होता ही नही। तथा उनको सम्यक्त्वी मानकर पूजते हैं सो भवनत्रिकमे सम्यक्त्वकी भी मुख्यता नही है। यदि सम्यक्त्वसे ही पूजते है तो सर्वार्थसिद्धिके देव, लौकान्तिक देव, उन्हे ही क्यो नही पूजते? यदि कहोगे कि क्षेत्रपाल आदिमें जिन-भक्ति विशेष है। तो भक्तिकी विशेषता सौधर्म इन्द्रमें है और वह सम्यग्दृष्टि भी है। उसे छोडकर इन्हें क्यो पूजते हो। यदि कहोगे कि जैसे राजाके द्वारपाल आदि होते हैं उसी प्रकार तीर्थंकरोके क्षेत्रपाल आदि हैं, परन्तु समवसरण आदिमे इनका अधिकार नही है। अत यह मान्यता झूठी है। तथा जिस प्रकार द्वारपाल आदिके मिलाने पर राजासे मिलते हैं उसी प्रकार यह तीर्थंकरसे नही मिलाते। वहाँ जिनके भक्ति होती है वही तीर्थंकरके दर्शनादि करता है, यह किसी अन्यके अधीन नही है। अत क्षेत्रपालादिको पूजना योग्य नही है।

### कुगुरुके श्रद्धानादिका निषेध

दर्शन पाहुडमें कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है—

एगं जिणस्स रूवं बिदियं उक्किट्ठ सावयाणंतु ।
अवरट्ठियाण तइय चउत्थं पुण लिंगदसणं णत्थि ॥१८॥

अर्थ—एक तो जिनस्वरूप निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिलिङ्ग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक दसवी ग्यारहवी प्रतिमाधारीका रूप, तीसरा आर्यिकाओका रूप, ऐसे ये तीन लिंग तो हैं, चौथा कोई लिंग श्रद्धान योग्य नही है। अर्थात् इन तीनोंके सिवाय जो अन्य को मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

उच्च पदवीका नाम रखाकर उसमे किञ्चित् भी अन्यथा प्रवृत्ति करने वाला महापापी है। और नीची पदवीका नाम रखाकर किंचित् भी धर्म साधन करे तो धर्मात्मा है। इसलिये धर्म साधन तो जितना बने उतना करना, उसमें कुछ दोष नही है। परन्तु ऊँचा धर्मात्मा नाम रखाकर नीच क्रिया करनेसे तो महापाप होता है। सुत्तपाहुडमें कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है—

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिण्हदि हत्थेसु ।
जइलेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदम् ॥ १८ ॥

अर्थ—मुनिपद यथा जातरूप सदृश है। जैसा जन्म होते होता है वैसा नग्न है। सो वह मुनि तिलके छिलके मात्र भी वस्तुको हाथमे ग्रहण नही करता। यदि कदाचित थोडा बहुत ग्रहण करे तो मरकर निगोदमे जाता है।

सो देखो, गृहस्थपने में बहुत परिग्रह रखकर कुछ प्रमाण करे तो भी स्वर्ग मोक्षका अधिकारी होता है। और मुनिपनमे किञ्चित् परिग्रह स्वीकार करने पर भी निगोदगामी होता है इसलिये ऊँचा नाम रखकर नीची प्रवृत्ति करना युक्त नही है।

लोगोकी अज्ञानता तो देखो, कोई छोटी सी प्रतिज्ञा भग करे तो उसे पापी कहते हैं और ऐसी बडी प्रतिज्ञा भंग करते देखकर भी उन्हें गुरु मानते हैं।

मुनिपद लेनेका क्रमतो यह है—पहले तत्त्वज्ञान होता है पश्चात् उदासीन परिणाम होते हैं, परीषह आदि सहनेकी शक्ति होती है तब वह स्वय ही मुनि होना चाहता है और तब श्री गुरु मुनि धर्म अगीकार कराते हैं। यह कैसी विपरीतता है कि तत्त्वज्ञान रहित विषयकषायासक्त जीवोको मायासे व लोभ दिखाकर मुनिपद देना, पीछे अन्यथा प्रवृत्ति कराना, यह तो बडा अन्याय है।

दर्शनपाहुडमें आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है—

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोऊण सकण्णो दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥ २ ॥

अर्थ—जिनवरके द्वारा उपदेशित धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है, उसे सुनकर हे कान वाले पुरुषो ! सम्यक्त्व रहित जीव वन्दना योग्य नही है ।

फिर कहते हैं—

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य ।
एदे भट्ठ विभट्ठा सेसं पि जणं विणासंति ॥ ८ ॥

अर्थ—जो दर्शनसे भ्रष्ट हैं, ज्ञानसे भ्रष्ट हैं, चारित्र भ्रष्ट हैं वे जीव भ्रष्टसे भ्रष्ट हैं । और जो जीव उनका उपदेश मानते हैं, उन जीवोका भी वे नाश करते हैं ।

फिर कहते हैं—

जे दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराण ।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥ १२ ॥

अर्थ—जो आप तो सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हैं और सम्यक्त्व धारियोंको अपने पैरों पडवाते हैं, वे लूले गूंगे होते हैं उनको बोधकी प्राप्ति महादुल्लभ है ।

जे वि पडंति य तेसिं जाणंता लज्जा गारवभयेण ।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं ॥ १३ ॥

अर्थ—जो जानते हुए भी लज्जा, गारव और भयसे उनके पैरो पडते हैं उनके भी बोधि अर्थात् सम्यक्त्व नही है क्योकि वे पापकी अनुमोदना करते हैं ।

सुत्त पाहुडमें कहते हैं—

जस्स परिग्गह गहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स ।
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ णिरायारो ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस लिंगके थोडा व बहुत परिग्रहका ग्रहण होता है वह जिनागम में निन्दनीय होता है । परिग्रह रहित ही अनगार होता है ।

भाव पाहुडमें कहते हैं—

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो ।
णिप्फल णिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥ ७१ ॥

अर्थ—जो धर्मसे निरुद्यमी है, दोषोका घर है, ईखके फूलके समान निष्फल है,

गुणके आचरणसे रहित है। वह नग्न रूपमे नट श्रमण है और नटकी तरह नग्नताके भेष धारण किये हुए है।

मोक्ष पाहुडमें कहा है—

जे पावमोहियमई लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥ ७८ ॥

जे पंच चेल सत्ता गंथग्गाही य जायणासीला।
आधा कम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥ ७९ ॥

अर्थ—जिनकी बुद्धि पापसे मोहित है ऐसे जो जीव जिनवरोंका लिंग धारण करके पाप करते है, वे पापमूर्ति मोक्ष मार्गमे भ्रष्ट जानना।

जो पाँच प्रकारके वस्त्रोमे आसक्त हैं, परिग्रहको ग्रहण करते है, याचना सहित हैं, अध कर्म दोषमे रत हैं उन्हे मोक्ष मार्गसे भ्रष्ट जानना।

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने लिंग पाहुडमें जो मुनिलिंग धारण करके हिंसा, आरम्भ, यंत्र मन्त्रादि करते है उनका बहुत निषेध किया है।

आचार्य गुणभद्रने अपने आत्मानुशासनमे कहा है—

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगा।
वनाद् वसन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥ १९७ ॥

अर्थ—जैसे रातके समय हिरन इधर उधरसे भयभीत होकर वनसे भागकर ग्रामोंके समीप वास करते है उसी तरह कलिकालमे तपस्वीजन नगरके समीप वास करते हैं यह बडे खेदकी बात है।

यहाँ नगरके समीप भी रहनेका निषेध किया तो नगरमे रहना तो निषिद्ध ही हुआ। आगे कहा है—

वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः।
सुस्त्रीकटाक्षलुण्टाकलुप्तवैराग्य सम्पदः ॥ २०० ॥

अर्थ—जिससे भविष्यमें संसार चलने वाला है अर्थात् जन्म मरणकी परम्परा बनी रहने वाली है ऐसे तपसे आजका गृहस्थाश्रम ही श्रेष्ठ है। कैसा है वह तप, स्त्रियोंके कटाक्ष रूपी लुटेरोंके द्वारा जिसकी वैराग्य सम्पदा लूट ली गई है। तथा परमात्म प्रकाशमें कहा है—

चिल्ला चिल्ली पुत्थियहिं तूसइ मूढु णिभंतु ।
एयहिं लज्जइ णाणियउ बंधहं हेउ मुणंतु ॥ २१५ ॥

अर्थ—मूढ पुरुष चेला चेली और पुस्तकोंसे सन्तुष्ट होता है किन्तु भ्रान्ति रहित ज्ञानी पुरुष उन्हें बन्धका कारण जानता हुआ उनसे लज्जित होता है।

उसीमे आगे कहा है—

केणवि अप्पउ वंचियउ सिरु लुंचिवि छारेण ।
सयलवि संग ण परिहरिय जिणवरलिंगधरेण ॥ २१७ ॥

अर्थ—जिसने जिनवरका लिंग धारण करके और राखके द्वारा सिरके केशोंका लोच करके भी समस्त परिग्रहका त्याग नही किया उसने अपनी आत्माको ठगा है।

जे जिण लिंगु धरेवि मुणि इट्ठ परिग्गह लिंति ।
छद्दि करेविणु ते वि जिय सा पुण छद्दि गिलंति ॥ २१८॥

अर्थ—हे जीव ! जो मुनि जिन लिंग धारण करके इष्ट परिग्रहको स्वीकार करते हैं वे वमन करके उसी वमनको पुन खाते है। इस प्रकार शास्त्रोमें ऐसे कुगुरुओंका व उनकी सेवा आदिका निषेध किया है।

तथा जहाँ मुनिके आहारादिमे धात्री दूत आदि छियालीस दोष कहे हैं वहाँ गृहस्थोके बालकोको प्रसन्न करना, समाचार कहना, मत्र औषधि ज्योतिषादि कार्य बतलाना तथा कृत कारित अनुमोदित भोजन लेने आदिका निषेध किया है। परन्तु अब काल दोषसे इन्ही दोषोंको लगाकर आहारादि ग्रहण करते हैं।

तथा आगममें पार्श्वस्थ, कुशील आदि भ्रष्टाचारी मुनियोका निषेध किया है। उन्हीके लक्षणोको धारण करते हैं। इतना विशेष है कि वे द्रव्यसे तो नग्न रहते हैं और नाना परिषह सहते हैं।

प्रश्न—निर्ग्रन्थके सिवाय अन्यको गुरु क्यों नही मानते ?

उत्तर—निर्ग्रन्थके सिवाय अन्य जीव सर्व प्रकारसे महंतता धारण नहीं करते।

प्रश्न—निर्ग्रन्थ भी तो आहार लेते हैं।

उत्तर—लोभी होकर दाताकी सेवा करके दीनतासे आहार नही लेते। इसलिये महंतता नहीं घटती। जो लोभी हो वही हीनता प्राप्त करता है। इसलिये निर्ग्रन्थ ही सर्व प्रकार महंतता युक्त होते हैं। निर्ग्रन्थके सिवाय अन्य जीव गुणवान

नहीं हैं। इसलिए गुणोंकी अपेक्षा महतता और दोषोकी अपेक्षा हीनता भासित होती है।

तथा निर्ग्रन्थके सिवा अन्य जीव जैसा धर्म साधन करते हैं वैसा व उनसे अधिक धर्म साधन ग्रहस्थ भी कर सकते हैं। इसलिये जो बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ मुनि हैं उन्हींको गुरु मानना।

प्रश्न—अब श्रावक भी तो जैसे होने चाहिये वैसे नही हैं इसलिये जैसे श्रावक वैसे मुनि।

उत्तर—श्रावक सज्ञा तो शास्त्रमें सब गृहस्थ जैनियोकी हैं। श्रेणिक भी असयमी था। उसे उत्तरपुराणमे श्रावकोत्तम कहा है। बारह सभाओमें श्रावक कहे हैं, वे सभी व्रतधारी नही थे। यदि सब व्रतधारी होते तो असंयमी मनुष्योकी संख्या अलग कही जाती। सो नही कही है। इस लिये जैन ग्रहस्थ श्रावक नाम पाता है। किन्तु मुनि नाम तो निर्ग्रन्थके सिवाय अन्यका नही कहा हैं।

तथा श्रावकके तो आठ मूल गुण कहे हैं। इसलिये मद्य, मास मधु पाँच उदम्बरादि फलोका भक्षण श्रावक नही करता। इसलिये किसी प्रकारसे श्रावकपना तो बन भी जाता हैं परन्तु मुनिके अठाईस मूल गुण हैं सो वेषियोके दिखाई ही नही देते। इसलिये मुनिपना किसी भी प्रकार सम्भव नही हैं।

देखो आदिनाथजीके साथ चार हजार राजा दीक्षा लेकर पुन भ्रष्ट हुए। तब देवोने उनसे कहा—'जिनलिंगी होकर अन्यथा प्रवर्तोगे तो हम दण्ड देंगे। जिनलिंग छोडकर जो तुम्हारी इच्छा हो सो तुम जानो।' इसलिये जिनलिंगी कहलाकर अन्यथा प्रवृत्ति करने वाले दण्डनीय हैं वे बन्दनीय कैसे हो सकते हैं।

प्रश्न—हमारे अन्तरगमे तो सत्य श्रद्धान है परन्तु बाह्य लज्जादि वश शिष्टाचार करते हैं। सो फल तो अन्तरगका होगा।

उत्तर—षट्पाहुडमें लज्जा आदिमे बन्दना आदिका निषेध बतलाया है, यह पहले कहा है। कोई जबरदस्ती मस्तक झुकाकर हाथ जुडवाये, तब तो यह सम्भव है कि हमारा अतरंग नही था। परन्तु मानादिवश आप ही नमस्कारादि करे वहाँ अन्तरंग कैसे न कहे। जैसे कोई अन्तरंगमे तो मासको बुरा जाने परन्तु राजादिको प्रसन्न करनेको मांस भक्षण करे तो उसे व्रती कैसे माने। उसी प्रकार अतरंगमे कुगुरु

सेवनको बुरा माने, परन्तु उनको व लोगोंको भला मनवानेके लिये उनकी सेवा करे तो उसे श्रद्धानी कैसे कहे। इसलिये जो श्रद्धानी जीव हैं उन्हें किसी प्रकारसे कुगुरुओंकी सेवा आदि नही करना चाहिए।

प्रश्न—जैसे राजा आदिकी करते हैं उसी प्रकार इनकी भी करता हूं।

उत्तर—राजादि धर्म पद्धतिमें नही है। गुरुका सेवन तो धर्म पद्धतिमे है।

इस प्रकार कुगुरुओंका कथन किया।

## कुधर्म का निषेध

जहाँ हिंसादि पाप हो व विषय कषायोंकी वृद्धि हो उसे कुधर्म जानो। तथा लोभी पुरुष दान देने योग्य पात्र नही है। रयणसार शास्त्रमें कहा है—

सप्पुरिसाणं दाण कप्पतरूणं फलाण सोहवा।
लोहीण दाणं जइ विमाणसोहा सवस्स जाणेह ॥ २६ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोको दान देना कल्प वृक्षोके फलोंकी शोभाके समान है। तथा लोभी पुरुषोको दान देना मुर्देकी ठठरीकी शोभाके समान है।

तथा दानमे ऐसा द्रव्य देना चाहिये जिसने उसका धर्म बढे। तथा दयादान पात्रदानके सिवा अन्य दान देकर धर्म मानना कुधर्म है। इसी तरह अन्नको त्याग व्रतके दिन कन्द मूलादिका भक्षण करना कुधर्म है दिनमें भोजन करके रात्रमें भोजन करना भी ऐसा ही है।

देखो कालका दोष, जैन धर्ममे भी कुधर्मकी प्रवृत्ति हो गई है। जैन धर्ममे जो धर्म पर्व कहे हैं उनमें विषय कषाय छोडकर सयम रूप प्रवृत्ति करना योग्य है। उसे तो करते नही, व्रतादिका नाम रखकर नाना शृङ्गार बनाते हैं। इष्ट भोजनादि करते हैं व कषाय बढानेके काम करते हैं।

तथा पूजनादि कार्योमे उपदेश तो यह था—

सावद्य लेशो बहु पुण्य राशौ दोषाय नालं

अर्थात् बहुत पुण्य समूहमे पापका अश दोषके लिये नही है। किन्तु पूजा प्रभावनादि कार्योंमें—रात्रिमे दीपकसे व अयत्नाचार प्रवृत्तिसे हिंसा आदि पाप तो बहुत करते हैं और स्तुति भक्ति आदि शुभ परिणामोमें नही लगते या थोडे लगते हैं। सो इसमें हानि बहुत और लाभ कम है या कुछ नही है।

तथा जिन मन्दिर तो धर्म स्थान है। वहाँ कुकथा करना, सोना आदि वर्जित है। जिन धर्म तो वीतराग भाव रूप है उसमे ऐसी विपरीत प्रवृत्ति काल दोषसे ही देखी जाती है।

प्रश्न—इसमे मिथ्यात्व भाव कैसे हुआ ?

उत्तर—तत्वार्थ श्रद्धान करनेमे प्रयोजन भूत तो रागादिका छोडना है। इसी का नाम धर्म है। यदि रागादि भावोको बढानेमें धर्म माने तो तत्त्वार्थ श्रद्धान कैसे रहा ? यह तो जिन आज्ञासे प्रतिकूल हुआ। रागादि भाव तो पाप है उन्हें धर्म माना तो झूठा श्रद्धान हुआ। इसलिये ऐसे कुधर्मके सेवनमें मिथ्यात्व भाव है।

मोक्ष पाहुडमे कहा है—

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छिय लिंग च वदए जो दु।
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठि हवे सो दु ॥ ९२ ॥

अर्थ—जो लज्जासे, भयसे, गौरवसे कुत्सित देवको, कुत्सित धर्मको व कुत्सित लिंगको नमस्कार करता है वह मिथ्यादृष्टि है।

इसलिये जो मिथ्यात्वका त्याग करना चाहे वह पहले कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का त्याग करे। सम्यक्त्वके पचीस मलोके त्यागमे भी तथा अमूढ दृष्टि और छह अनायतनोमे भी इन्हीका त्याग कराया है। इसलिये इनका अवश्य त्याग करना चाहिये। तथा कुदेवादिके सेवनसे जो मिथ्यात्व भाव होता है वह हिंसादि पापोसे भी बडा पाप है। इसके फलसे निगोद नरकादिमे जन्म लेकर अनन्त काल पर्यन्त कष्ट उठाना होता है। और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति महा दुर्लभ हो जाती है।

यही भाव पाहुडमे कहा है—

कुच्छियधम्मम्मि रओ कुच्छिय पासंडिभत्तिसंजुत्तो।
कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइ भायणो होई ॥ १४० ॥

अर्थ—जो कुधर्ममे रत है, कुगुरुओकी भक्तिमें लगा रहता है तथा कुतप करता है वह खोटी गतिमें जन्म लेता है। इसलिये भव्य जीवो किञ्चित् लोभसे व भयसे जिससे अनन्तकाल पर्यन्त महादु ख सहना होता है ऐसा मिथ्यात्वभाव योग्य नही है।

जिन धर्ममें पहले बडा पाप छुडाकर पीछे छोटा पाप छुडाया जाता है। इसलिये इस मिथ्यात्व भावको सात व्यसन आदिसे भी बडा पाप मानकर पहले छुडाया

जाता है। इसलिये जो पाप से डरते हैं और अपने आत्माको दुःख समुद्रमें नहीं डुबाना चाहते वे जीव इस मिथ्यात्वको अवश्य छोड़ें।

देव, गुरु, धर्म सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं इनका आधार ही धर्म है। इनमें शिथिलता करनेसे धर्म किस प्रकार रहेगा। इस लिये सर्वथा प्रकारसे कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का त्यागी होना योग्य है कुदेवादिका त्याग न करनेसे मिथ्यात्व भाव बहुत पुष्ट होता है और वर्तमानमें यहाँ इसकी प्रवृत्ति विशेष पायी जाती है। इसीलिये यहाँ उसका स्वरूप कहकर निषेध किया है। उसे जानकर मिथ्यात्व भाव छोड़कर अपना कल्याण करो।

## षष्ठ अधिकार

# जन मिथ्यादृष्टियोंका विवेचन

जो जैन हैं, जिन धर्मको मानते हैं। उनके भी मिथ्यात्व रहता है। उसका वर्णन करते हैं क्योकि इस बैरी मिथ्यात्वका अश भी बुरा है। इसलिये सूक्ष्म भी मिथ्यात्व त्यागने योग्य है।

जिनागममे दो नयो को लेकर वर्णन है। उनमेसे एक का नाम निश्चयनय और दूसरेका नाम व्यवहारनय है। आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारके प्रारम्भमें इन दोनोका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

> ववहारोऽ भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
> भूदत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवदि जीवो ॥ ११ ॥

**अर्थ**—व्यवहारनयको अभूतार्थ और निश्चयनयको भूतार्थ कहा है। जो जीव भूतार्थ निश्चयनयका आश्रय लेता है वह सम्यग्दृष्टि होता है।

इसका आशय यह है कि भूतार्थ कहते हैं सत्यार्थको। भूत अर्थात् पदार्थमे रहने वाला अर्थ अर्थात् भाव, उसे जो प्रकाशित करता है वह भूतार्थ अर्थात् सत्यवादी है। भूतार्थनय या निश्चयनय ही हमे यह बतलाता है कि जीव और कर्मका अनादि कालसे एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने पर भी दोनो भिन्न भिन्न हैं। यह भिन्नता मुक्ति दशामें प्रकट होती है। इसलिए निश्चयनय सत्यार्थ है। तथा अभूतार्थ कहते हैं असत्यार्थको। अभूतार्थ अर्थात् जो पदार्थमे नही होता ऐसा अर्थ अर्थात् भाव। उसे जो कहे उसे अभूतार्थ कहते हैं। जैसे जीव और पुद्गल की सत्ता भिन्न है, स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न हैं। फिर भी एक क्षेत्रावगाहरूप अनादि सम्बन्ध होनेसे दोनोको एक कहा जाता है। अत व्यवहारनय असत्यार्थ है। किन्तु ऐसा होने पर भी व्यवहारनय सर्वथा सबके लिये बेकार नही है।

समयसारमें कहा है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहार देसिदा पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे ॥ १२ ॥

इस गाथा के भावार्थमें पं० जयचन्द जी ने लिखा है—

लोकमे सोनेके सोलह ताव प्रसिद्ध हैं। उनमें पन्द्रह ताव तक पर संयोगकी कालिमा रहती है। तब तक उसे अशुद्ध कहते हैं। और फिर ताव देते देते अन्तिम ताव उतरता है तब सोलह ताव वाला शुद्ध सोना कहलाता है। जिन लोगोको सोलह ताव सोनेका ज्ञान, श्रद्धान तथा प्राप्ति हो चुकी है उनको पन्द्रह वान तक का सोना प्रयोजनीय नही है। किन्तु जिनको सोलहवान सोने की प्राप्ति जब तक नही हुई है तब तक पन्द्रहवान तक भी प्रयोजनीय है। उसी तरह जीव पदार्थ पुद्‌गलके संयोगसे अशुद्ध अनेक रूप हो रहा है। उसका सब पर द्रव्योंसे भिन्न एक ज्ञायकता मात्रका ज्ञान श्रद्धान तथा आचरणरूप प्राप्ति जिनको हो गयी है उनको तो पुद्‌गल सयोगजनित अनेक रूपताको कहने वाला व्यवहारनय प्रयोजनीय नही है। किन्तु जब तक प्राप्ति नही हुई है तब तक यथा पदवी प्रयोजनीय है। अर्थात् जब तक यथार्थ ज्ञान श्रद्धानकी प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न हुई हो तब तक यथार्थ उपदेशदाता जिन वचनोका सुनना, धारण करना तथा जिन वचनके प्रवक्ता जिन गुरुकी भक्ति, जिन बिम्बका दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्गमे प्रवृत्त होना प्रयोजनीय है। और जिनको श्रद्धान ज्ञान तो हुआ है पर साक्षात् प्राप्ति नही हुई है तब तक पूर्व कथित कार्य पर द्रव्यका आलम्बन छोडने रूप अणुव्रत महाव्रतका ग्रहण, समिति गुप्ति, पच परमेष्ठीका ध्यान आदि करना, तथा वैसा करने वालोकी सगति करना, और विशेष जाननेके लिए शास्त्रोंका अभ्यास करना आदि व्यवहार मार्गमें प्रवृत्त होना आदि व्यवहारनयका उपदेश प्रयोजनीय है। व्यवहारनयको कथञ्चित असत्यार्थ कहा है। यदि उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोडदे तो शुभोपयोग रूप व्यवहार तो छूट जाये और शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति न होनेसे अशुभोपयोगमें ही स्वेच्छाचार रूप प्रवृत्ति करनेसे नरकादि गति रूप संसारमें ही भ्रमण करना पडेगा इसलिए साक्षात् शुद्धनयके विषयभूत शुद्धात्माकी प्राप्ति जब तक न हो तब तक व्यवहार भी प्रयोजनीय है।

आचार्य अमृतचन्द्र जी ने अपने पुरुषार्थसिद्धयुपायके प्रारम्भमें कहा है कि जो व्यवहार और निश्चय दोनोको जानकर तात्त्विक रूपसे मध्यस्थ रहता है वही उपदेशका सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है क्योकि समयसारको नयपक्षातीत कहा है और नयोको ठीक समझे बिना नयपक्षातीत होना सम्भव नही है। इसीलिये नयोका सम्यक्ज्ञान आवश्यक है। जो उनके यथार्थ स्वरूपको न जानकर अन्यथा प्रवर्तते है उनके तीन प्रकार हैं–निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी और उभयाभासी। इन तीनोंका विवेचन करते है—

## १. निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि

कितने ही जीव निश्चयको न जानते हुए निश्चयाभासके श्रद्धानी होकर अपनेको मोक्षमार्गी मानते है। वे अपनी आत्माको सिद्ध समान अनुभव करते है। आप प्रत्यक्ष ससारी है। भ्रम से अपनेको सिद्ध मानते है यही मिथ्यात्व है।

शास्त्रोमे जो आत्माको सिद्ध समान कहा है। वह द्रव्यदृष्टिसे कहा है, पर्याय अपेक्षा सिद्ध समान नही है। जैसे राजा और रक मनुष्यपनेकी अपेक्षा समान है, परन्तु राजापने और रकपने की अपेक्षा समान नही है। उसी प्रकार सिद्ध और ससारी जीव जीवत्वपनेकी अपेक्षा समान है। परन्तु सिद्धपने और ससारीपने की अपेक्षा समान नही है। सिद्ध शुद्ध है और ससारी अशुद्ध है। यह शुद्ध अशुद्ध अवस्था पर्याय है। इस पर्याय अपेक्षा समानता मानना मिथ्यात्व है।

तथा निश्चयनयके पक्षपाती अपने मे केवल ज्ञानादिका सद्भाव मानते हैं। परन्तु अपने मे तो क्षयोपशमरूप मति श्रुतादि ज्ञानका सद्भाव है। केवल ज्ञान तो क्षायिक भाव रूप है और क्षायिक भाव कर्मका क्षय होने पर होता है। भ्रमसे कर्मका क्षय हुए बिना क्षायिक भाव मानना मिथ्या भाव है। शास्त्रमें जो सब जीवोको केवल ज्ञान स्वभाव कहा है वह शक्तिकी अपेक्षा कहा है, क्योकि सब जीवोमें केवल ज्ञानरूप होने की शक्ति है।

कोई ऐसा मानते है कि आत्माके प्रदेशो मे केवल ज्ञान है ऊपर आवरण होनेसे प्रकट नही होता। जैसे सूर्यमें प्रकाश रहता है किन्तु मेघोंका आवरण

आने से प्रकट नही होता ऐसा मानना भ्रम है। कर्मके निमित्तसे केवलज्ञानका अभाव माना गया है। कर्मका क्षय होने पर ही वह प्रकट होता है इसीसे उसे क्षायिक भाव कहा है। शास्त्रोंमें जो सूर्यका दृष्टान्त दिया है उसका इतना ही भाव लेना कि जैसे मेघ पटलके होते हुए सूर्यका प्रकाश प्रकट नही होता, उसी प्रकार कर्मका उदय होते हुए केवल ज्ञान नही होता। ऐसा भाव नही लेना कि जैसे सूर्यमे प्रकाश रहता है वैसे आत्मामें केवलज्ञान रहता है, क्योकि दृष्टान्त सर्व प्रकारसे मिलता नही है।

शका—आवरण नाम तो वर्तमान वस्तुको ढांकनेका है यदि केवलज्ञान नही तो केवल ज्ञानावरण क्यो कहते हो ?

उत्तर—यहा शक्ति होते हुए उसे व्यक्त न होने दे इस अपेक्षा आवरण कहा है। कर्मका निमित्त मिटने पर केवलज्ञान व्यक्त होता है। इसलिये आत्माका स्वभाव केवलज्ञान कहा जाता है, क्योकि ऐसी शक्ति सदा पाई जाती है।

इसलिये जो वर्तमान अवस्था में आत्माको केवल ज्ञानदि रूप अनुभव करते है वे मिथ्या दृष्टि है।

तथा अपनेको रागादि भावका प्रत्यक्ष अनुभव होने पर भी अपने आत्माको रागादि रहित मानते हैं। उनसे पूछते है कि रागादि तो होते दिखाई देते हैं वे किस द्रव्यके हैं यदि वे पुद्गलके हो तो अचेतन या मूर्तिक होगे। परन्तु वे तो चेतनता सहित अमूर्तिक भाव भासित होते हैं इसलिये वे आत्माके ही हैं। समयसार कलशमे कहा है—

> कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
> रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग् भावानुषङ्गात्कृतिः।
> नैकस्याः प्रकृते रचित्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
> जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥२०३॥

अर्थ—रागादि रूप भावकर्म किसीके द्वारा नही किया गया, ऐसा नही है, क्योकि वह कार्य रूप है। तथा जीव और कर्म इन दोनोका भी कार्य नही है, क्योकि ऐसा हो तो अचेतन कर्मको भी उस भावकर्मका फल भोगना होगा। सो असम्भव है। तथा अकेले कर्मका भी वह कार्य नही है क्योंकि वह अचेतन है।

इसलिए इस रागादिका कर्ता जीव ही है और वह जीव का ही कर्म है, क्योंकि भावकर्म चेतनाका अनुसारी है। चेतना बिना नहीं होता और पुद्गल ज्ञाता नहीं है।

अब जो रागादि भावोका निमित्त कर्मको ही मानकर अपने को अकर्ता मानते हैं। उनके सम्बन्धमें समयसार कलशमें कहा है—

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धय. ॥२२१॥

अर्थ—जो जीव रागादिकी उत्पत्तिमें परद्रव्यको ही निमित्त मानते हैं वे जीव शुद्ध ज्ञानसे रहित अन्ध बुद्धि हैं वे मोह नदीके पार नही उतरते हैं।

प्रश्न—समयसारमे ही ऐसा कहा है—

वर्णाद्या वा रागमोहादयोवा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुस.।

अर्थात् वर्णादिक अथवा रागादिक सभी भाव इस आत्मासे भिन्न हैं। तथा वही रागादिको पुद्गलमय कहा है तथा अन्य शास्त्रोमे भी आत्माको रागादिसे भिन्न कहा है सो किस प्रकार है?

उत्तर—रागादिक भाव परद्रव्यके निमित्तसे होते है और यह जीव उन्हें स्वभाव मानता है। जिसे स्वभाव जाने उसे बुरा कैसे मानेगा और उसके नाशका उद्यम क्यो करेगा? इसलिए ऐसा श्रद्धान भी विपरीत है। उसे छुडानेके लिए स्वभावकी अपेक्षा रागादिकको भिन्न कहा है और निमित्तकी मुख्यतासे पुद्गलमय कहा है। जो रागादिको परका मानकर स्वच्छन्द हो निरुद्यमी हुआ है उसे उपादान कारणकी मुख्यतासे रागादि आत्माके है ऐसा श्रद्धान कराया है। तथा जो रागादिको अपना मानकर उनके नाशका उद्यम नही करता उसे निमित्त कारणकी मुख्यतासे 'रागादि परभाव है' ऐसा श्रद्धान कराया है।

दोनो विपरीत श्रद्धानोसे रहित होकर जब सत्य श्रद्धान होगा तब ऐसा मानेगा कि रागादिभाव आत्माके स्वभाव तो नही है, कर्मके निमित्तसे आत्माके अस्तित्वमें विभाव पर्याय रूपसे उत्पन्न होते है। निमित्त मिटने पर इनका नाश होनेसे स्वभाव भाव रह जाता है इसलिए इनके नाशका उद्यम करना चाहिए।

प्रश्न—यदि ये कर्मके निमित्तसे होते हैं तो कर्मका उदय रहते ये विभाव कैसे दूर होंगे?

उत्तर—एक कार्य होनेमें अनेक कारण चाहियें। उनमें जो कारण बुद्धिपूर्वक हो उन्हें तो प्रयत्नपूर्वक मिलाना चाहिए। और अबुद्धि पूर्वक कारण जब स्वय मिले तो कार्य होता है। सो विभावको दूर करनेके बुद्धिपूर्वक कारण तो तत्त्वविचार आदि हैं। और अबुद्धि पूर्वक कारण मोहकर्मके उपशमादि हैं। सो उसका इच्छुक तत्त्वविचार आदिका प्रयत्न करे और मोहकर्मके उपशम आदि स्वयं हो तो रागादि दूर होते हैं।

प्रश्न—तत्त्वविचार आदि भी कर्मके क्षयोपशम आदिके आधीन हैं इसलिए उद्यम करना निरर्थक है।

उत्तर—तत्त्वविचार आदि करने योग्य ज्ञानावरणका क्षयोपशम तो तेरे है। इसलिए उपयोगको उसमे लगानेका उद्यम कराते हैं। असंज्ञी जीवोंके तो क्षयोपशम नहीं है इसलिए उन्हें उपदेश नहीं देते।

प्रश्न—होनहार हो तो उपयोग लगे, बिना होनहारके कैसे लगे ?

उत्तर—यदि ऐसी बात है तो किसी भी कार्यका उद्यम मत कर। तू खान-पान व्यापारादिका तो उद्यम करता है और यहाँ होनहारकी बात करता है। इससे मालूम होता है कि तेरा अनुराग इसमें नही है।

इस प्रकार जो रागादिकके होते हुए भी आत्माको उनसे रहित मानते हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना।

तथा कर्म नोकर्मका सम्बन्ध होते हुए आत्मा को बन्धरहित मानते हैं। यदि बन्धन न हो तो उनके नाशका उद्यम क्यो करे।

प्रश्न—शास्त्रोमे आत्माको कर्म नोकर्मसे भिन्न कैसे कहा है ?

उत्तर—सम्बन्ध अनेक प्रकारके होते हैं। उनमें से तादात्म्य सम्बन्धकी अपेक्षा आत्माको कर्म नोकर्मसे भिन्न कहा है। क्योकि द्रव्य अदल बदल कर एक नही हो सकते। इसीसे आत्माको अबद्ध स्पृष्ट कहा है। तथा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धकी अपेक्षा बन्धन है। बन्धके निमित्तसे आत्मा अनेक अवस्थाएँ धारण करता है। इसलिए अपनेको बन्ध रहित मानना मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न—हमें तो बन्ध मुक्तिका विकल्प करना नही, क्योकि योगसार शास्त्रमे कहा है— जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि सो बंधियहि णिभंतु ॥ ८७ ॥

अर्थ—जो जीव अपनेको बद्ध और मुक्त मानता है वह नि:सन्देह बँधता है।

उत्तर—जो जीव केवल पर्याय दृष्टि होकर बन्ध मुक्त अवस्थाको ही मानते हैं और द्रव्य स्वभावको न जानते हुए जो जीव अपनेको बन्ध-मुक्त हुआ मानता है वह बँधता है। यदि सर्वथा ही बन्ध और मुक्ति न हो तो बन्धके नाशका उद्यम क्यो किया जाए। इसलिए द्रव्य दृष्टिसे एक दशा है और पर्याय दृष्टिसे अनेक दशा है। ऐसा मानना योग्य है।

जिनवाणीमें तो नाना नयोकी अपेक्षासे कही कैसा, कही कैसा निरूपण किया है। किन्तु निश्चयनयका पक्षपाती निश्चयनयको मुख्यतासे जो कथन किया हो उसीको ग्रहण करके मिथ्या दृष्टिको धारण करता है।

तथा जिनवाणीमे तो सम्यग्दर्शन और ज्ञानचारित्रकी एकता होनेपर मोक्ष मार्ग कहा है। सो सम्यग्दर्शन और ज्ञानमे सात तत्त्वो का चिन्तन श्रद्धान होना चाहिए। किन्तु उनका विचार इसके नही है। और चारित्रमे रागादि दूर करना चाहिए उसका भी उद्यम नही है। एक अपने आत्माके अनुभवको ही जानकर सन्तुष्ट हुआ है। उसका अभ्यास करनेको अन्तरगमे ऐसा चिन्तन करता रहता है कि मैं सिद्ध समान शुद्ध हूँ, केवल ज्ञानादि सहित हूँ, द्रव्य कर्म नोकर्मसे रहित हूँ परमानन्दमय हूँ, जन्म मरणादि दु ख मेरे नही है। इत्यादि चिन्तन करता है।

उससे पूछते है कि ऐसा चिन्तन यदि द्रव्य दृष्टिसे करते हो तो द्रव्य शुद्ध-अशुद्ध पर्यायोका समूह है। तुम शुद्ध ही अनुभव क्यो करते हो। यदि पर्याय दृष्टिसे ऐसा चिन्तन करते हो तो तुम्हारी तो वर्तमान पर्याय अशुद्ध है। तुम अपनेको शुद्ध कैसे मानते हो।

यदि शक्ति अपेक्षा शुद्ध मानते हो तो 'मैं ऐसा होने योग्य हूँ' ऐसा मानो। 'मै ऐसा हूँ' ऐसा क्यो मानते हो। इसलिए अपनेको शुद्ध चिन्तवन करना भ्रम है।

प्रश्न—शास्त्रमें शुद्ध चिन्तवन करने का उपदेश क्यो दिया है ?

उत्तर—एक तो द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना है एक पर्याय अपेक्षा है। द्रव्यकी अपेक्षा तो पर द्रव्यसे भिन्नपना और अपने भावोंसे अभिन्नपनेका नाम शुद्धपना है। पर्याय अपेक्षा औपाधिक भावोका अभाव होनेका नाम शुद्धपना है, सो शुद्ध चिन्तनमे द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना ग्रहण किया है।

यही समयसार टीकामें कहा है—

'एष एवाशेष द्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्धइत्यभिलप्यते'

—गाथा ६ की टीका

इसका अर्थ है कि आत्मा प्रमत्त या अप्रमत्त नही है। सो यही समस्त पर द्रव्योंके भावोंसे भिन्नपने द्वारा उपासना किया गया 'शुद्ध' ऐसा कहा जाता है।

तथा वही ऐसा कहा है—

समस्त कारकचक्र प्रक्रियोत्तीर्णं निर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः।

—गाथा ७३ की टीका

अर्थ—समस्त कर्ता कर्म आदि कारकोके समूहको प्रक्रियासे पारगत निर्मल अनुभूतिमात्र होनेसे शुद्ध है ऐसा शुद्ध शब्दका अर्थ जानना।

पर्याय अपेक्षा शुद्धपना माननेसे तथा अपनेको केवली माननेसे महाविपरीतता प्राप्त होती है। इसलिए अपनेको द्रव्य पर्याय रूप अवलोकन करना चाहिए। द्रव्यसे सामान्य रूप अवलोकन करना और पर्यायसे अवस्था विशेष अवधारण करना चाहिये। ऐसा चिन्तवन करनेसे ही सम्यग्दृष्टि होता है क्योंकि सच्चा अवलोकन किये बिना सम्यग्दृष्टि नाम कैसे प्राप्त कर सकता है।

## निश्चयाभासीकी स्वच्छन्दता और उसका निषेध

तथा मोक्षमार्गमे जो रागादिक मिटानेका श्रद्धा ज्ञान आचरण करना है उसका तो निश्चयाभासीको विचार ही नही है। वह अपने शुद्ध अनुभवनमे ही अपनेको सम्यग्दृष्टि मानकर अन्य सब साधनोका निषेध करता है।

शास्त्राभ्यासको निरर्थक बतलाता है। द्रव्यादिकके तथा गुणस्थान, मार्गणा त्रिलोकादिकके विचारको विकल्प ठहराता है। तपश्चरणको वृथा सक्लेश करना मानता है, व्रतादिक धारण करनेको बन्धनमें पडना ठहराता है, पूजनादि कार्योंको शुभास्रव जानकर हेय बतलाता है। इत्यादि सब साधनोको त्याग प्रमादी होकर परिणमित होता है।

यदि शास्त्राभ्यास निरर्थक हो तो मुनियोंके भी तो ध्यान, अध्ययन दो ही कार्य मुख्य हैं। ध्यान मे उपयोग न लगनेपर अध्ययनमें ही उपयोग लगाते हैं। अन्य स्थान उपयोग लगानेका नही है। तथा शास्त्राभ्यास द्वारा तत्त्वोंको विशेष जानने

से सम्यग्दर्शन ज्ञान निर्मल होते है । तथा जब तक उसमें उपयोग रहता है तबतक कषाय मन्द रहती है और आगामीमें वीतराग भावोकी वृद्धि होती है, ऐसे कार्यको निरर्थक कैसे कहा जा सकता है ?

तथा वह कहता है कि जिन शास्त्रोमें अध्यात्मका उपदेश है उनका अभ्यास करना चाहिये, अन्य शास्त्रोके अभ्याससे कोई सिद्धि नही है ।

उससे कहते है—यदि तेरी दृष्टि सच्ची है तो सभी जैन शास्त्र कार्यकारी हैं । उनमें भी मुख्यत अध्यात्म शास्त्रोंमे आत्मस्वरूपका मुख्य कथन है । सो सम्यग्दृष्टि होनेपर आत्मस्वरूपका निर्णय तो हो चुका, तब तो ज्ञानकी निर्मलताके लिये व उपयोगको मन्द कषाय रूप रखनेके लिए अन्य शास्त्रोका अभ्यास मुख्य चाहिए । तथा आत्म स्वरूपके निर्णयको स्पष्ट रखनेके लिए अध्यात्म शास्त्रोंका भी अभ्यास चाहिए । परन्तु अन्य शास्त्रोमे अरुचि तो नही होना चाहिये । जिसको अन्य जैन शास्त्रोमे अरुचि है उसे अध्यात्मकी सच्ची रुची नही है ।

जैसे विषयासक्त पुरुष विषयासक्त पुरुषोकी कथा रुचि पूर्वक सुनता है, विषयो के विशेषको जानता है । विषयके आचरणमे जो साधन है उन्हें भी हितरूप मानता है, विषयके स्वरूपको भी पहचानता है । उसी प्रकार जिसके आत्मरुचि होती है वह आत्मरुचिके धारक तीर्थंकरादिके पुराणोको भी जानता है तथा आत्माके विशेष जानने के लिये गुणस्थानादि को भी जानता है । तथा आत्म आचरणमे साधन जो व्रतादि हैं उनको भी हितरूप मानता है और आत्माके स्वरूपको भी पहचानता है । इसलिए चारो ही अनुयोग उपकारी है ।

इसलिए शास्त्राभ्यास मे उपयोग लगाना योग्य है । तथा द्रव्यादि और गुणस्थानादिके विचारको विकल्प ठहराता है सो ये विकल्प तो हैं परन्तु निर्विकल्प उपयोगके न रहनेपर यदि इन विकल्पो को न करे तो अन्य विकल्प होगे जो बहुत रागादिगर्भित होगे । तथा निर्विकल्प दशा सदा रहती नही है क्योकि छद्मस्थका उपयोग एकरूप अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त रहता है ।

तथा केवल आत्मज्ञान ही से तो मोक्षमार्ग होता नही, सात तत्वोका श्रद्धान ज्ञान होनेपर तथा रागादि दूर करनेपर मोक्षमार्ग होता है । सो सात तत्वोंके विशेष

जाननेको और अजीवके विशेष तथा कर्मके आस्रव बन्धादिके विशेष अवश्य जानने योग्य हैं। जिससे सम्यग्दर्शन ज्ञानकी प्राप्ति हो। पश्चात् रागादिको दूर करना आवश्यक है। सो जो रागादि बढ़ानेके कारण हैं उन्हें छोडकर, जो रागादि घटाने के कारण हैं उनमें उपयोग लगाना चाहिये। सो द्रव्यादि और गुणस्थानादिके विचार रागादि घटानेमें कारण हैं। इनमे कोई रागादिका निमित्त नही है। इसलिए सम्यग्दृष्टि होनेके पश्चात् भी उनमें उपयोग लगाना चाहिये।

फिर वह कहता है—जो रागादि मिटानेके कारण हैं उनमे उपयोग लगाना तो ठीक है। परन्तु त्रिलोकवर्ती जीवोकी गति आदिका विचार करना, कर्मके बन्ध, उदय सत्तादिके विशेषोको जानना तथा त्रिलोकके आकार आदिको जानना क्या कार्यकारी है?

उत्तर—इनके भी विचार करनेसे रागादि बढते नही हैं तथा इनको विशेष जाननेसे तत्वज्ञान निर्मल होता है इससे रागादि घटते हैं। इसलिए कार्यकारी हैं।

प्रश्न—स्वर्ग नरकादिको जानने से तो राग द्वेष होता है?

उत्तर—ज्ञानीके तो ऐसा नही होता, अज्ञानीके होता है। पाप छोडकर पुण्य कार्य में लगनेसे किञ्चित् रागादि घटते ही है।

प्रश्न—शास्त्रमे ऐसा उपदेश है कि प्रयोजन भूत थोडा ही जानना कार्यकारी है। इसलिए बहुत विकल्प क्यों करे?

उत्तर—जो जीव अन्य बहुत जानते हैं किन्तु प्रयोजन भूतको नही जानते, अथवा जिनको बहुत जाननेकी शक्ति नही उनको यह उपदेश दिया है। जिनको बहुत जाननेकी शक्ति हो उनसे यह नही कहा है कि बहुत जाननेसे बुरा होगा। जितना बहुत जानेगा उतना प्रयोजन भूत जानना निर्मल होगा। तथा निश्चयाभासी तपश्चरण को वृथा क्लेश मानता है। सो मोक्षमार्गी होनेपर तो संसारी जीवोसे उल्टी परिणति होनी चाहिए। ससारी जीवोको इष्ट अनिष्ट सामग्रीसे रागद्वेष होता है इसे तो नही होना चाहिए। मोक्षमार्गी राग छोडनेके लिए इष्ट सामग्री भोजनादि का त्यागी होता है और द्वेष छोडनेके लिए अनिष्ट सामग्री अनशन आदि तपको अंगीकार करता है। परन्तु तुझे अनशन आदिसे द्वेष हुआ इसलिए उसे क्लेश

मानता है। जब अनशन क्लेश हुआ तब भोजन करना स्वयमेव सुख हुआ और उसमें राग हुआ। सो ऐसी परिणति तो ससारियो की पाई जाती है। तूने मोक्षमार्गी होकर क्या किया ?

प्रश्न—कितने ही सम्यग्दृष्टि भी तपश्चरण नही करते ?

उत्तर—वे कारण विशेषसे तप न करे, परन्तु श्रद्धानमें तो तपको भला मानते हैं और उसके साधनका अभ्यास करते हैं। किन्तु तुम्हे तो यह श्रद्धान है कि तप करना क्लेश है। तब तुम सम्यग्दृष्टि कैसे हुए ?

प्रश्न—शास्त्र मे ऐसा कहा है कि तप आदि करता है तो करो, परन्तु ज्ञानके बिना सिद्धि नही है ?

उत्तर—जो जीव तत्वज्ञानमे विमुख हैं और तपमे ही मोक्ष मानते हैं, उनके लिए ऐसा कहा है। किन्तु तत्वज्ञान होनेपर रागादिको मिटानेके लिए तप करने का निषेध नहीं है। इसलिए शक्ति अनुसार तप करना योग्य है।

तथा वह व्रतादिको बन्धन मानता है। और कहता है कि हमारे परिणाम तो शुद्ध है, बाह्य त्याग नही किया तो नही किया। परिणामोको रोक बाह्य हिंसादि भी कम करें। परन्तु प्रतिज्ञा करनेसे बन्धन होता है। इसलिए प्रतिज्ञारूप व्रत अगीकार नही करता।

उत्तर—हिंसादि कार्यके त्यागको व्रत कहते हैं। व्रत न लेनेसे हिंसादि कार्य तेरे परिणाम बिना स्वय तो होते नही। तब तेरे परिणाम शुद्ध कैसे रहे। जिसकी तू प्रतिज्ञा नही लेता उसके प्रति राग भाव होनेसे बिना कार्य किये भी कर्म बन्ध होता रहता है। इसलिये प्रतिज्ञा अवश्य करने योग्य है।

प्रश्न—बादमे प्रतिज्ञा भंग हो तो महापाप लगता है। इसलिए प्रतिज्ञाका विकल्प नही करना।

उत्तर—जिस प्रतिज्ञाका निर्वाह होता न जाने वह प्रतिज्ञा तो न करे। प्रतिज्ञा लेते हुए यह अभिप्राय रहे कि प्रयोजन पडने पर छोड दूगा तो वह प्रतिज्ञा कार्य-कारी नही है। प्रतिज्ञा ग्रहण करते हुए यह परिणाम रहे कि मरण होनेपर भी नही छोडूंगा तो ऐसी प्रतिज्ञा करना युक्त है। बिना प्रतिज्ञा किये अविरत सम्बन्धी बन्ध नही रुकता।

तथा निश्चयाभासी पूजनादि कार्यको शुभास्रवका कारण जान हेय मानता है। यद्यपि यह सत्य है परन्तु यदि इन कार्योंको छोडकर शुद्धोपयोग रूप हो तो भला ही है। और विषय कषाय रूप प्रवृत्त हो तो अपना बुरा ही है।

शुभोपयोगसे स्वर्गादि हो और अच्छी भावनासे कर्मोंके स्थिति अनुभाग घट जायें तो सम्यक्त्वादिकी भी प्राप्ति हो जाये। और अशुभोपयोगसे नरक निगोदादि हो तथा बुरी भावनासे कर्मोंके स्थिति अनुभाग बढ जायें तो सम्यक्त्वादिकी प्राप्ति महा दुर्लभ हो जाये।

तथा शुभोपयोगसे कषाय मन्द होती है और अशुभोपयोगसे तीव्र होती है। सो मन्द कषायरूप कार्य छोडकर तीव्र कषायरूप करना तो ऐसा ही है जैसे कडवी वस्तु न खाकर विष खाना। सो यह अज्ञानता है।

प्रश्न—शास्त्रमें तो शुभ अशुभ दोनोको समान कहा है?

उत्तर—जो जीव शुभोपयोगको मोक्षका कारण मानकर उपादेय मानते हैं और शुद्धोपयोगको नही जानते, उन्हे शुभ अशुभ दोनोको अशुद्धताकी अपेक्षा व बन्ध कारणकी अपेक्षा समान कहा है। किन्तु शुभ अशुभका परस्पर विचार करें तो शुभ भावोमे कषाय मन्द होनेसे बन्ध हीन होता है और अशुभ भावोमे कषाय तीव्र होनेसे बन्ध बहुत होता है। इसलिये सिद्धान्तमे अशुभकी अपेक्षा शुभको भला भी कहा है। अत अशुभमे शुभमे प्रवर्तना योग्य है। अत जहाँ शुद्धोपयोग होता जाने वहां तो शुभका निषेध ही है और जहाँ अशुभोपयोग होता जानें वहाँ शुभका उपाय करके उसे स्वीकारना योग्य है।

अब उसी केवल निश्चयावलम्बी जीवकी प्रवृत्ति बतलाते हैं—

जो जीव केवल निश्चयाभासके अवलम्बी हैं उन जीवोको ऐसा श्रद्धान होता है कि केवल शुद्धात्माके चिन्तवनसे तो सवर निर्जरा होते है व मुक्तात्माके सुखका अश प्रकट होता है। तथा जीवके गुणस्थानादि अशुद्ध भावोंका और अपने अतिरिक्त अन्य जीव पुद्‌गलादिका चिन्तवन करनेसे आस्रव बन्ध होता है इसलिये वे अन्य विचारसे विमुख रहते हैं।

किन्तु उनका यह श्रद्धान यथार्थ नही है। क्योंकि शुद्ध स्व द्रव्यका या अन्यका चिन्तवन करते हुए यदि वीतरागता सहित भाव होते हैं तो वहाँ संवर निर्जरा ही

है। और यदि रागादि रूप भाव हो तो आस्रव बन्ध ही है। यदि पर द्रव्यको जानने-से ही आस्रव बन्ध होते हो तो केवली तो समस्त पर द्रव्योको जानते हैं इसलिये उनके भी आस्रव बन्ध होगे।

प्रश्न—छद्मस्थके तो पर द्रव्य चिन्तवनसे आस्रव बन्ध होता है।

समाधान—सो भी नही है। क्योकि शुक्लध्यानमे भी मुनियोंके छहो द्रव्योके द्रव्य गुण पर्यायोका चिन्तवन होनेका कथन किया है और अवधि मन पर्यय ज्ञानोमें पर द्रव्यको जाननेकी ही विशेषता है। तथा चौथे गुण स्थानमें कोई अपने स्वरूपका चिन्तन करता है उसके भी आस्रव बन्ध अधिक है तथा गुणश्रेणी निर्जरा नही है। पाचवे छट्ठे गुणस्थानमे आहार विहारादि क्रिया होने पर परद्रव्य चिन्तवनसे भी आस्रव बन्ध थोडा है। और गुण श्रेणि निर्जरा होती है। इसलिये स्वद्रव्य-परद्रव्य के चिन्तवनसे निजरा और बन्ध नही होते किन्तु रागादि घटनेसे निर्जरा है और रागादि होनेसे बन्ध है।

प्रश्न—निर्विकल्प अनुभव दशामें नय प्रमाण निक्षेपादिके तथा दर्शन ज्ञानादिके भी विकल्पोका निषेध किया है सो किस प्रकार है?

उत्तर—जो जीव इन्ही विकल्पोमे लगे रहते हैं और अभेदरूप एक आत्माका अनुभव नही करते, उन्हें ऐसा उपदेश दिया है कि यह सब विकल्प वस्तुका निश्चय करनेमें कारण है। वस्तुका निश्चय होनेपर इनका प्रयोजन नही रहता। इसलिये इन विकल्पोको छोडकर अभेदरूप एक आत्माका अनुभव कर। इनके विचार रूप विकल्पोंमें ही फँसा रहना योग्य नही है। वस्तुका निश्चय होनेके पश्चात् ऐसा नही है कि सामान्यरूप स्वद्रव्यका ही चिन्तवन रहे। स्व द्रव्यका तथा परद्रव्यका सामा-न्यरूप और विशेषरूप जानना होता है परन्तु वीतरागता सहित होता है। उसीका नाम निर्विकल्प दशा है।

प्रश्न—यहाँ तो बहुत विकल्प हुए, निर्विकल्प सज्ञा कैसे सम्भव है।

उत्तर—निर्विचार होनेका नाम निर्विकल्प नही है, क्योकि छद्मस्थका जानना विचार सहित है। उसका अभाव माननेसे ज्ञानका अभाव होगा और तब जडपना हुआ। सो आत्माके होता नही। इसलिये विचार तो रहता है। तब वह कहता है कि सामान्यका ही विचार रहता है, विशेषका नहीं। किन्तु सामान्यका ही विचार

रहता है, विशेषका नहीं। किन्तु सामान्यका विचार तो बहुत समय तक रहता नहीं है तथा विशेषके बिना सामान्यका स्वरूप भासित नही होता।

यदि कहोगे कि अपना ही विचार रहता है परका नही। तो परमें पर बुद्धि हुए बिना अपनेमें निज बुद्धि कैसे हो ? समयसार कलशमे कहा है—

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठिते ॥१३०॥

अर्थ—भेदज्ञानको तब तक निरन्तर भाना, जब तक परसे छूटकर ज्ञान ज्ञानमें स्थित हो।

इसका अभिप्राय यह है कि पूर्वमें स्व-परको एक जानता था। फिर भिन्न जानने-के लिये भेदज्ञानको तब तक भाना ही योग्य है जब तक ज्ञान परद्रव्यको जानकर अपने ज्ञान स्वरूपमे ही निश्चित हो जाये। पश्चात् भेदज्ञानका प्रयोजन नही रहता, स्वयमेव परको पररूप और आपको आप रूप जानता रहता है। ऐसा नही है कि पर द्रव्यका जानना ही मिट जाता है। इसलिये परद्रव्यको जानने या स्वद्रव्यके विशेषो को जाननेका नाम विकल्प नही है।

सो किस प्रकार है यह कहते हैं—रागद्वेष वश किसी ज्ञेयको जाननेमें उपयोग लगाना और किसी ज्ञेयके जाननेसे छुडाना, इस प्रकार बार बार उपयोगको भ्रमानेका नाम विकल्प है। तथा जहाँ वीतरागमय होकर जिसे जानते हैं उसे यथार्थ जानते हैं, अन्य अन्य ज्ञेयको जाननेके लिये उपयोगको भ्रमाते नही हैं वहाँ निर्विकल्प दशा जानना।

छद्मस्थ का उपयोग तो नाना ज्ञेयोमे भ्रमता ही रहता है वहाँ निर्विकल्पता कैसे सम्भव है ?

उत्तर—जितने काल तक एकको जानने रूप रहे तब तक निर्विकल्प नाम पाता है। सिद्धान्तमें ध्यानका लक्षण ऐसा ही किया है—

एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। —तत्त्वार्थसूत्र ९।२७।

एकका मुख्य चिन्तवन हो और अन्य चिन्ता रुक जाये, उसका नाम ध्यान है। इस सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीकामें यह विशेष कहा है—यदि सर्व चिन्ता रुकनेका नाम ध्यान है तो अचेतनपना प्राप्त होता है। तथा ऐसी भी विवक्षा है कि सन्तान अपेक्षा

नाना ज्ञेयोंका भी जानना होता है। परन्तु जब तक वीतरागता रहे, रागादिसे अपने उपयोगको न भ्रमावे तब तक निर्विकल्प दशा कहते हैं।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो पर द्रव्यसे छुडाकर स्व द्रव्यमे उपयोग लगानेका उपदेश किस लिये दिया है ?

समाधान—जो पर द्रव्य शुभ अशुभ भावोके कारण हैं, उनमे उपयोग लगानेसे जिनको राग द्वेष हो आते है और स्वरूप चिन्तन करें तो राग द्वेष घटते हैं, ऐसे नीचेकी अवस्था वाले जीवोको पूर्वोक्त उपदेश है।

अत परद्रव्यको जानते हुए भी वीतराग भाव होता है ऐसा श्रद्धान चाहिये।

प्रश्न—ऐसा है तो शास्त्रमे ऐसा क्यो कहा है कि आत्माका श्रद्धान ज्ञान आचरण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है ?

समाधान—अनादिसे पर द्रव्यमे आपरूप श्रद्धान ज्ञान आचरण था। उसे छुडाने के लिये यह उपदेश है। अपनेमे ही आपरूप श्रद्धान ज्ञान आचरण होनेसे पर द्रव्यमे रागद्वेषादि करनेका श्रद्धान ज्ञान आचरण मिट जाये तब सम्यग्दर्शनादि होते हैं। यदि पर द्रव्यका पर द्रव्य रूप श्रद्धानादि करनेसे सम्यग्दर्शनादि न होते हो तो केवली के भी उनका अभाव हो। जहाँ पर द्रव्यको बुरा जानना और निजद्रव्यको भला जानना हो वहाँ तो राग द्वेष सहज ही हुए। जहाँ आपको आपरूप और परको पर-रूप यथार्थ जानता रहे और वैसे ही श्रद्धानादि रूप प्रवर्तन करे, तभी सम्यग्दर्शनादि होते है। ऐसा जानना।

इसलिये जिस प्रकारसे रागादि मिटानेका श्रद्धान हो वही सम्यग्दर्शन है, जिस प्रकारसे रागादि मिटानेका जानना हो वही जानना सम्यग्ज्ञान है। तथा जिस प्रकारसे रागादि मिटे वही आचरण सम्यक् चारित्र है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है। इस प्रकार निश्चयनयके आभास सहित एकान्त पक्षके धारी जैनाभासोके मिथ्यात्वका कथन किया।

## व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि

अब व्यवहाराभास पक्षके धारक जैनाभासोके मिथ्यात्वका कथन करते हैं—

जिनागममें जहाँ व्यवहारकी मुख्यतासे उपदेश है उसे मानकर जो बाह्य साधनादिका ही श्रद्धानादि करते हैं उनके सर्व धर्मके अंग अन्यथा रूप होकर मिथ्या-

भावको प्राप्त होते हैं—सो विशेष कहते हैं— यहाँ ऐसा जान लेना कि व्यवहार धर्मकी प्रवृत्तिसे पुण्य बन्ध होता है इसलिये प्रवृत्तिकी अपेक्षा तो इसका निषेध नही है परन्तु जो जीव व्यवहार प्रवृत्ति ही से सन्तुष्ट होकर सच्चे मोक्ष मार्गमें उद्यमी नही होते, उन्हे मोक्षमार्गमें सम्मुख करनेके लिये उस शुभ रूप मिथ्या प्रवृत्तिका भी निषेध रूप कथन करते हैं।

इस कथनको पढकर या सुनकर यदि शुभ प्रवृत्ति छोड अशुभमे प्रवृत्ति करोगे तब तो तुम्हारा बुरा होगा और यदि यथार्थ श्रद्धान करके मोक्षमार्गमें प्रवर्तन करोगे तो तुम्हारा भला होगा। यदि कोई ससारी पुण्यरूप धर्मका निषेध सुनकर धर्म साधन छोड विषय कषाय रूप प्रवर्तन करेगा तो वह नरकादिमे दुःख पायेगा। इसमे उपदेशदाताका दोष नही है। उसका अभिप्राय तो असत्य श्रद्धानादि छुडाकर मोक्षमार्गमे लगानेका है। ऐसे अभिप्रायसे यहाँ कथन करते हैं—

## कुल अपेक्षा धर्म धारक व्यवहाराभासी

यहाँ कितने ही जीव तो कुलक्रमसे ही जैनी हैं। वे जैन धर्मका स्वरूप तो जानते नही, परन्तु कुलमें जसी प्रवृत्ति चली आयी है वैसी ही प्रवृत्ति करते हैं। जैसे अन्यमती अपने कुल धर्मानुसार प्रवृत्ति करते हैं वैसे ही ये भी प्रवर्तते हैं। यदि कुल क्रमसे ही धर्म हो तो मुसलमान आदि सभी धर्मात्मा हो जायें। फिर जैनधर्म की विशेषता क्या रही ?

तथा यदि पिता दरिद्री हो और पुत्र धनवान हो तो वहाँ तो कुल क्रमका विचार करके पुत्र दरिद्री नही रहता। तब धर्ममें कुलका क्या प्रयोजन है ? तथा पिता नरकमे जाये और पुत्र मोक्ष जाये, वहाँ कुलक्रम कैसे रहा ? इसलिये धर्ममें कुलक्रम का कुछ भी प्रयोजन नही है।

शास्त्रोंका अर्थ विचार कर यदि काल दोषसे जिन धर्ममे भी पापी पुरुषों द्वारा कुदेव कुगुरु कुधर्म सेवनादि रूप तथा विषय कषाय पोषणादि रूप विपरीत प्रवृत्ति चलाई गई हो तो उसको त्यागकर जिन आज्ञानुसार प्रवर्तन करना योग्य है।

प्रश्न—परम्परा छोडकर नवीन मार्गमें प्रवर्तन करना योग्य नही है।

उत्तर—यदि अपनी बुद्धिसे नवीन मार्ग पकडे तो योग्य नही है। जो अनादि निधन जैन धर्मका स्वरूप शास्त्रोंमें लिखा है उसकी प्रवृत्ति मिटाकर पापी पुरुषों

ने बीचमें अन्यथा प्रवृत्ति चलाई हो उसे परम्परा मार्ग कैसे कहा जा सकता है। तथा उसे छोड़कर पुरातन जैन शास्त्रोमें जैसा धर्म लिखा था वैसा करे तो उसे नवीन मार्ग कैसे कहा जा सकता है ?

तथा यदि कुलमें जैमी जिनदेवकी आज्ञा है उसी प्रकार धर्मकी प्रवृत्ति है तो अपनेको भी वैसा ही करना योग्य है। परन्तु उसे कुलाचार न मान धर्म मानकर अगीकार करना। जो सच्चे भी धर्मको कुलाचार मानकर प्रवर्तता है उसे धर्मात्मा नही कहते, क्योकि यदि कुलके लोग उस आचरणको छोड दें तो आप भी छोड देगा तथा वह जो आचरण करता है वह कुलके भयसे करता है, धर्म बुद्धिसे नही करता इसलिये वह धर्मात्मा नही है।

अत धर्म सम्बन्धी कार्योमे कुलका विचार न करके जैसा सच्चा धर्ममार्ग है वैसा ही प्रवर्तन करना योग्य है।

## परीक्षा रहित आज्ञानुसारी धर्म धारक व्यवहाराभासी

तथा कितने ही जैनी आज्ञानुसारी होते हैं। जैसी शास्त्रमे आज्ञा है उस प्रकार मानते है। परन्तु आज्ञाकी परीक्षा नही करते। यदि आज्ञा ही मानना धर्म हो तो सभी मतवाले अपने अपने शास्त्रकी आज्ञा मानकर धर्मात्मा हो जाये। इसलिये परीक्षा करके जिन वचनकी सत्यता जानकर जिन आज्ञा मानना योग्य है। बिना परीक्षा किये सत्य असत्यका निर्णय कैसे हो ? और बिना निर्णय किये जैसे अन्यमती अपने शास्त्रोकी आज्ञा मानते हैं उसी प्रकार जैनशास्त्रोकी आज्ञा मानना पक्षसे आज्ञा मानना है।

प्रश्न—शास्त्रमे दस प्रकारके सम्यक्त्वमे आज्ञा सम्यक्त्व कहा है तथा धर्मध्यान का एक भेद आज्ञा विचय कहा है। तथा नि शकित अगमे जिन वचनमे सशय करनेका निषेध किया है। सो कैसे ?

समाधान—शास्त्रोंमे कितने ही कथन तो ऐसे हैं जिनकी प्रत्यक्ष अनुमानादि द्वारा परीक्षा कर सकते हैं। तथा कितने ही कथन ऐसे है जो प्रत्यक्षादि गोचर नही हैं। इसलिये आज्ञा ही से प्रमाण होते हैं। नाना शास्त्रोंमे जो कथन समान हो उनकी तो परीक्षा करनेका प्रयोजन ही नही है। परन्तु जो कथन परस्पर विरुद्ध हो उनमें से जो कथन प्रत्यक्ष अनुमानादि गोचर हो उनकी तो परीक्षा करना। जिन शास्त्रों-

के कथन प्रमाण ठहरे, उन शास्त्रोंमें जो ऐसे कथन हों जो प्रत्यक्ष अनुमान गोचर नहीं हैं उनको भी प्रमाण मानना। किन्तु जिन शास्त्रोंके कथनकी प्रमाणता न ठहरे उनके सब कथनको अप्रमाण मानना।

प्रश्न—परीक्षा करने पर यदि कोई कथन किसी शास्त्रमें प्रमाण भासित हो, और कोई कथन किसी शास्त्रमें प्रमाण भासित हो तब क्या करे?

समाधान—जो शास्त्र आप्तके द्वारा कहे गये हैं उनमे कोई भी कथन प्रमाण विरुद्ध नही होते। भले प्रकार परीक्षा न करने पर ही भ्रम होता है।

प्रश्न—छद्मस्थसे अन्यथा परीक्षा हो जाये तो वह क्या करे?

समाधान—प्रमाद छोडकर परीक्षा करनेसे सच्ची ही परीक्षा होती है। पक्षपातके कारण भले प्रकार परीक्षा न करने पर ही अन्यथा परीक्षा होती है।

प्रश्न—शास्त्रोमें परस्पर विरुद्ध कथन तो बहुत है, किन-किन की परीक्षा की जाये?

समाधान—मोक्षमार्गमे देवगुरु, धर्म, जीवादि तत्व और बन्ध मोक्षमार्ग प्रयोजन भूत हैं। सो इनकी परीक्षा कर लेना। जिन शास्त्रोंमें यह सच्चे कहे हो उनकी सब आज्ञा मानना और जिनमे ये अन्यथा कहे हो उनकी आज्ञा न मानना। सो परीक्षा करने पर जैनमत ही सत्य भासित होता है। क्योंकि इसके वक्ता सर्वज्ञ वीतराग हैं। वे झूठ क्यो कहेंगे। इस प्रकार जिन आज्ञा माननेमे जो सच्चा श्रद्धान हो उसका नाम आज्ञा सम्यक्त्व है। और उसका एकाग्र चिन्तन आज्ञा विचय धर्मध्यान है।

यदि ऐसा न मानें और बिना परीक्षा किये ही आज्ञा माननेसे सम्यक्त्व व धर्म ध्यान हो जाये तो जो द्रव्यलिंगी आज्ञा मानकर मुनि हुए और आज्ञानुसार साधन द्वारा ग्रैवेयक पर्यन्त जाते हैं उनके मिथ्यादृष्टिपना कैसे रहा? इसलिये परीक्षा करके आज्ञा मानने पर ही सम्यक्त्व व धर्मध्यान होता है।

प्रश्न—गोम्मटसार (जीव काण्ड गा २७) में कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव अज्ञानी गुरुके निमित्तसे झूठ भी श्रद्धान करे फिर भी वह सम्यग्दृष्टि ही है। सो यह कैसे कहा?

समाधान—जो प्रत्यक्ष अनुमानादि गोचर विषय नही हैं और सूक्ष्म होनेसे जिनका निर्णय नही हो सकता उनकी अपेक्षा यह कथन है। परन्तु मूलभूत देवगुरु

धर्मादि तथा तत्त्वादिका अन्यथा श्रद्धान होनेपर तो सम्यक्त्व रहता नहीं है यह निश्चय करना। इसलिये बिना परीक्षा किये केवल आज्ञा ही द्वारा जो जैनी हैं उन्हें भी मिथ्यादृष्टि जानना।

जिन धर्ममें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको मोक्षमार्ग कहा है। वहाँ सच्चे देवादिक व जीवादिका श्रद्धान करनेसे सम्यक्त्व होता है व उनको जाननेसे सम्यग्ज्ञान होता है। व रागादि मिटने पर सम्यक् चारित्र होता है। सो इनके स्वरूपका जैसा जिनमत मे निरूपण किया है वैसा अन्यत्र कही नहीं किया। इसलिये जिनमतका यह सच्चा लक्षण है। इस लक्षणको पहिचानकर जो परीक्षा करते हैं वे ही सच्चे श्रद्धानी है। इसके सिवाय जो अन्य प्रकारसे परीक्षा करते हैं वे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।

इतना तो है कि जिनमतमे पापकी प्रवृत्ति विशेष नही हो सकती। और पुण्यके निमित्त बहुत है तथा सच्चे मोक्षमार्गके कारण भी हैं। इसलिये जो कुलादिसे भी जैनी है वे दूसरोसे तो भले हैं।

### उक्त व्यवहाराभासी धर्म-धारकोकी प्रवृत्ति

अब इनके धर्म साधन कैसे पाया जाता है सो बतलाते है—ये भक्ति करते हैं तो चित्त तो कही है और मुखसे पाठादि व नमस्कारादि करते है। परन्तु मैं कौन हूँ, किसकी स्तुति करता हूँ, किस लिये स्तुति करता हूँ, पाठमे क्या अर्थ है सो कुछ पता नही। कदाचित् कुदेवादिको भी सेवा करने लग जाता है। सुदेव गुरु शास्त्रादि व कुदेव गुरु शास्त्रादिकी पहिचान नही है।

दान देता है तो पात्र अपात्रके विचार रहित अपनी प्रशसाके लिए दान देता है। पूजा प्रभावना आदि कार्य करता है तो जिस प्रकार लोकमे बडाई हो, विषय कषायका पोषण हो उस प्रकार कार्य करता है।

### धर्म बुद्धिसे धर्म धारक व्यवहाराभासी

तथा कितने ही धर्म बुद्धिसे धर्म करते हैं, परन्तु निश्चय धर्मको नही जानते। व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको मोक्षमार्ग जानकर उनका साधन करते हैं।

### सम्यग्दर्शनका अन्यथा रूप

शास्त्रमे देव गुरु धर्मकी प्रतीति करनेमे सम्यक्त्व होना कहा है। उसे मानकर अरहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु, जैनशास्त्रके अतिरिक्त दूसरोंको नमस्कारादि करनेका

त्याग किया। परन्तु उनके गुण अवगुणकी परीक्षा नहीं करते। अथवा परीक्षा करते भी हैं तो तत्त्व-ज्ञानपूर्वक सच्ची परीक्षा नही करते। बाह्य लक्षणों द्वारा परीक्षा करते हैं।

## देव भक्तिका अन्यथा रूप

अरहन्त देव इन्द्रादि द्वारा पूज्य हैं, अनेक अतिशय सहित हैं। क्षुधादि दोष रहित है, दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश देते हैं, केवलज्ञान द्वारा लोकालोकको जानते हैं।

इनमेंसे उनके कितने ही विशेषण पुद्गलाश्रित हैं और कितने ही जीवाश्रित है। उनको भिन्न-भिन्न नही जानते। जो बाह्य विशेषण हैं उनके द्वारा अरहन्त देवको महान मानते हैं किन्तु जो जीवाश्रित विशेषण हैं उनको यथावत् नही जानते। यदि उन्हें जाने तो मिथ्यादृष्टि न रहें। तथा जैसे अन्यमती ईश्वरको कर्ता-धर्ता मानते हैं उसी प्रकार यह अरहन्तको स्वर्ग मोक्ष-दाता, दीन दयालु पतित-पावन आदि मानता है। ऐसा नही जानता कि फल तो अपने परिणामोंका मिलता है, अरहन्त तो निमित्त मात्र है। अपने परिणाम शुद्ध हुए बिना अरहन्त ही स्वग मोक्ष दाता नही हैं। अरहन्त आदि नाम सुनकर कुत्ते आदिने स्वर्ग प्राप्त किया। इसमें नामादिका ही अतिशय मानते हैं। परन्तु नाम सुनकर कुत्ते आदिके मन्द कषाय रूप भाव हुए और उनका फल स्वर्ग हुआ। बिना परिणामोके नाम लेने वालेको भी स्वर्ग प्राप्ति नही होती, तब सुनने वालेको कैसे हो सकती है।

अरहन्त आदिके नाम पूजनादिसे अनिष्ट सामग्रीका विनाश और इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति मानकर रोगादि मिटानेके लिये तथा धनादिकी प्राप्तिके लिये उनका नाम लेता है व पूजनादि करता है। किन्तु इष्ट अनिष्टका कारण तो पूर्व कर्मका उदय है, अरहन्त तो कर्ता हर्ता है नही। अरहन्तादिकी भक्तिरूप शुभोपयोग परिणामोंसे पूर्व पापके संक्रमण आदि हो जाते हैं इसलिये उपचारसे अनिष्टके नाश और इष्टकी प्राप्तिका कारण अरहन्तादिकी भक्तिको कहा जाता है। परन्तु जो जीव पहलेसे ही सांसारिक प्रयोजनके लिये भक्ति करता है उसके तो पापका ही अभिप्राय है। कांक्षा आदिरूप भावोंसे पूर्व पापका संक्रमणादि कैसे होगा। ऐसा होनेसे कार्य सिद्ध नही होगा।

कितने ही जीव भक्तिको मुक्तिका कारण जानकर उसमें अनुराग पूर्वक प्रवृत्ति करते हैं। यह तो जैसे अन्यमती भक्तिसे मुक्ति मानते हैं, वैसा ही श्रद्धान हुआ।

परन्तु भक्ति तो रागरूप है और रागसे बन्ध होता है इसलिये वह मोक्षका कारण नही है। जब रागका उदय आता है तब भक्ति न करे तो पापानुराग हो, इसलिये अशुभ रागसे बचनेके लिये ज्ञानी भक्तिमें प्रवृत्ति करते हैं। परन्तु उपादेय मानकर सन्तुष्ट नही होते। शुद्धोपयोगमे उद्यमी रहते हैं। पञ्चास्तिकाय टीका (गा. १३६) में कहा है—

'इयं भक्तिः केवल भक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। तीव्र रागज्वर विनोदार्थमस्थानरागनिषेधार्थं क्वचित् ज्ञानिनोऽपि भवति।'

अर्थ—यह भक्ति केवल भक्तिको ही प्रधान मानने वाले अज्ञानीके होती है। तथा तीव्र रागज्वर मिटानेके लिये अथवा अस्थानमें रागका निषेध करनेके लिये कही कही ज्ञानीके भी होती है।

प्रश्न—ऐसा है तो ज्ञानीसे अज्ञानीके भक्तिकी अधिकता होती होगी।

उत्तर—यथार्थताकी अपेक्षा तो ज्ञानीके सच्ची भक्ति है, अज्ञानीके नही है। और राग भावकी अपेक्षा अज्ञानीके श्रद्धानमें भी उसे मुक्तिका कारण जाननेसे अति अनुराग है। ज्ञानीके श्रद्धानमें शुभबन्धका कारण जाननेसे वैसा अनुराग नही है।

## गुरु भक्तिका अन्यथा रूप

अब उसके गुरु भक्ति कैसी होती है यह कहते हैं—आज्ञानुसारी जैनी तो 'यह जैन साधु हैं हमारे गुरु हैं', ऐसा विचार कर उनकी भक्ति करते हैं। किन्तु कितने ही परीक्षा भी करते है 'ये मुनि दया पालते हैं, शील पालते है, धनादि परिग्रह नही रखते उपवासादि तप करते हैं, क्षुधादि परीषह सहते हैं, किसी पर क्रोधादि नही करते, उपदेश देकर दूसरोको धर्ममे लगाते हैं' इत्यादि गुणोका विचार कर वे उनमे भक्ति भाव करते हैं। परन्तु ऐसे गुण तो परम हसादि अन्यमतियोमे तथा जैनी मिथ्यादृष्टियोमे भी पाये जाते है इसलिये इनके द्वारा सच्ची परीक्षा नही होती।

तथा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता रूप मोक्षमार्ग ही मुनियोका सच्चा लक्षण है। उसे पहिचानते नही। इस प्रकार यदि मुनियोका सच्चा स्वरूप ही नही जानोगे तो सच्ची भक्ति कैसे होगी? पुण्य बन्धके कारणभूत शुभ क्रियारूप गुणोंको पहिचान कर उनकी सेवासे अपना भला होना जानकर भक्ति करते हैं।

इस प्रकार गुरु भक्तिका स्वरूप कहा।

## शास्त्र भक्तिका अन्यथा रूप

अब शास्त्र भक्तिका स्वरूप कहते हैं—

कितने ही जीव तो उसे केवलीकी वाणी जानकर केवलीके पूज्यपनेके कारण उसकी भक्ति करते हैं। कितने ही, इन शास्त्रोंमें विरागता, दया क्षमा, शील सन्तोषादिका निरूपण है ऐसा जानकर भक्ति करते हैं। किन्तु इस प्रकार सच्ची परीक्षा नही होती। जिनवाणीमें अनेकान्तरूप जीवादि तत्त्वोंका निरूपण है और सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्ष मार्ग बतलाया है इसीसे जैन शास्त्रोंकी उत्कृष्टता है। उसे जानते नही यदि उसे जान सके तो मिथ्यादृष्टिपना छूट जाये।

इस प्रकार देवगुरु शास्त्र की प्रतीति होनेसे व्यवहार सम्यक्त्व हुआ मानता है। परन्तु उनका सच्चा स्वरूप भासित होनेसे प्रतीति भी सच्ची नही हुई। और सच्ची प्रतीतिके बिना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नही होती।

## सात तत्त्वोका अन्यथा रूप

तत्त्वार्थ सूत्रमें तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। इसलिये शास्त्रोंमें जैसे जीवादि तत्त्व लिखे हैं वैसे आप सीख लेता है और दूसरोको उपदेश देता है। परन्तु उन तत्त्वोका भाव भासित नही होता और वस्तुके भावका ही नाम तत्त्व है। सो भाव भासित हुए बिना तत्त्वार्थ श्रद्धान कैसे होगा। भाव भासना क्या है, यह कहते हैं—

जो जीव सम्यक्त्वी होनेके लिये शास्त्र द्वारा जीवादि तत्त्वोका स्वरूप सीख लेता है परन्तु उनके स्वरूपको नही पहचानता। स्वरूपको पहिचाने बिना अन्य तत्त्वोको अन्य तत्त्वरूप मान लेता है। अथवा सत्य भी मानता है तो निर्णय करके नही मानता। इसलिये उसके सम्यक्त्व नही होता। और शास्त्र पढा हो या न पढा हो, यदि जीवादिके स्वरूपको पहिचानता है तो वह सम्यग्दृष्टि है। तुच्छ बुद्धि जीवादिका नाम नही जानते परन्तु उनके स्वरूपको पहिचानते हैं कि मैं हूं। ये पर हैं, ये भाव बुरे हैं, ये भले हैं, इस प्रकार स्वरूपको पहिचाननेका नाम भाव भासना है। शिवभूति मुनि जीवादिका नाम नही जानते थे। और 'तुषमास भिन्न' ऐसा रटने लगे। किन्तु यह शब्द सिद्धान्तका नही था। परन्तु स्व-परके भावरूप ध्यान किया। इसलिये केवली हुए। और ग्यारह अंगके पाठी जीवादि तत्त्वोंके विशेष

भेद जानते हैं परन्तु भाव भासित नहीं होता। इसलिये मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।

अब इसके तत्त्व श्रद्धान किस प्रकार होता है सो कहते हैं—

## जीव अजीव तत्त्वका अन्यथा रूप

जिन शास्त्रोसे जीवके त्रस स्थावर आदि गुणस्थान मार्गणादि रूप भेदोंको जानता है तथा अजीवके पुद्गलादि भेदोको व उनके वर्णादि विशेषोको जानता है परन्तु अध्यात्म शास्त्रोंमें भेद विज्ञानके कारणभूत व वीतराग दशा होनेमें कारणभूत जैसा निरूपण किया है वैसा नही जानता। किसी प्रसग वश वैसा जानना हो जाने पर शास्त्रानुसार जान तो लेता है परन्तु अपनेको आपरूप जानकर परका अश भी अपनेमे न मिलाना और अपना अश भी परमे न मिलाना, ऐसा सच्चा श्रद्धान नही करता। जैसे अन्य मिथ्यादृष्टि पर्याय बुद्धिमे जानपनेमें व वर्णादिमे अहबुद्धि धारण करते हैं उसी प्रकार यह भी आत्माश्रित ज्ञानादिमे तथा शरीराश्रित क्रियाओ मे अपनत्व मानता है। कभी कभी शास्त्रानुसार सच्ची बात भी कहता है परन्तु अन्तरगमे श्रद्धान नही है। इसलिये जसे 'मतवाला' माताको माता भी कहे तो वह सयाना नही है उसी प्रकार इसे सम्यक्त्वी नही कहते।

तथा जैसे किसी और की बात कर रहा हो उस प्रकारसे आत्माका कथन करता है। परन्तु यह आत्मा 'मैं हूँ' ऐसा भाव भासित नही होता। तथा जैसे किसी और को औरसे भिन्न बतलाता हो, उस प्रकार आत्मा और शरीरकी भिन्नताका कथन करता है। परन्तु मै इन शरीरादिमे भिन्न हूँ, ऐसा भाव भासित नही होता। तथा शरीररूप पर्यायमें जीव पुद्गलके परस्पर निमित्तसे अनेक क्रियाए होती हैं। उन्हे दोनो द्रव्योके मिलापसे उत्पन्न हुई जानता है। यह जीवकी क्रिया है उसमें पुद्गल निमित्त है और पुद्गलकी क्रिया है उसमे जीव निमित्त है। ऐसा भिन्न-भिन्न भाव भासित नही होता। इत्यादि भाव भासित हुए बिना उसे जीव अजीवका सच्चा श्रद्धानी नही कहते, क्योकि जीव अजीवको जाननका तो यही प्रयोजन था। वह हुआ नही।

## आस्रव तत्त्वका अन्यथा रूप

तथा आस्रव तत्त्वमे जो हिंसादिरूप पापास्रव है उसे हेय जानता है। अहिंसा-दिरूप पुण्यास्रवको उपादेय मानता है। परन्तु ये दोनो ही कर्म बन्धके कारण हैं

इनमें उपादेयता मानना मिथ्यादृष्टिपना है। समयसारके बन्धाधिकार (गा २५४-२५६) में कहा है—

'सब जीवोंके जीवन मरण, सुख दुःख अपने अपने कर्मके निमित्तसे होते हैं। जिनके ऐसा अध्यवसाय है कि मैं पर जीवोंको दुःखी सुखी करता हूँ और पर जीव मुझे दुःखी सुखी करते हैं उनका यह मिथ्या अध्यवसाय बन्धका कारण है।

जहाँ अन्य जीवोंको जिलानेका अथवा सुखी करनेका अध्यवसाय हो वह तो पुण्य बन्धका कारण है और मारनेका या दुःखी करनेका अध्यवसाय हो वह पाप बन्धका कारण है। इस प्रकार अहिंसा सत्य आदि तो पुण्य बन्धके कारण है और हिंसा असत्य आदि पाप बन्धके कारण हैं। इसलिये हिंसा आदिकी तरह अहिंसा आदिको भी बन्धका कारण जानकर हेय ही जानना।

हिंसामे मारनेकी बुद्धि होती है। परन्तु आयु पूर्ण हुए बिना कोई मरता नही है। अतः हिंसाका भाव रखनेवाला अपनी द्वेष परिणतिसे आप ही पाप बाँधता है। अहिंसामे रक्षा करनेकी बुद्धि होती है परन्तु जिसकी रक्षा करना चाहते है वह अपनी आयु रहे बिना जीता नही है। फिर भी रक्षाका भाव रखनेवाला अपनी प्रशस्त राग परिणतिमे आप ही पुण्य बाँधता है। अतः दोनो ही भाव हेय हैं। वीत-राग होकर दृष्टा ज्ञाता रूप प्रवर्तने पर ही बन्ध नही होता। अतः वही उपादेय है। किन्तु जब तक ऐसी दशा न हो तब तक प्रशस्त रागरूप प्रवर्तन करना ही योग्य है। परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि यह भी बन्धका कारण होनेसे हेय है। यदि श्रद्धानमे प्रशस्त रागको मोक्ष मार्ग माने तो मिथ्यादृष्टि ही है।

तथा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये आस्रवके भेद हैं। उनके बाह्यरूप को तो मानता है परन्तु अन्तरंग रूपको नही जानता। जैसे अन्य देवादिके सेवन रूप गृहीत मिथ्यात्वको मिथ्यात्व जानता है परन्तु अनादि अगृहीत मिथ्यात्वको नही जानता। तथा बाह्य त्रस स्थावरकी हिंसा तथा इन्द्रियमनके विषयोंमें प्रवृत्तिको अवि-रति जानता है परन्तु हिंसाका मूल प्रमाद परिणति है और विषय सेवन रूप अवि-रतिका मूल अभिलाषा है उसको नही देखता। बाह्य क्रोधादि करनेको कषाय जानता है परन्तु अन्तरंगमें विद्यमान राग द्वेषको नहीं पहचानता। इस प्रकार आस्रवोंका स्वरूप अन्यथा जानता है।

तथा राग द्वेष-मोह-रूप जो आस्रव भाव हैं उनको तो मेटनेकी चिन्ता नही करता और बाह्य क्रिया अथवा बाह्य निमित्त मिटानेका उपाय करता। सो उनके मिटानेसे आस्रव नहं मिटता। द्रव्यलिंगी मुनि अन्य देवादिकी सेवा नही करता, हिंसा और विषयोमे प्रवृत्ति नही करता, क्रोधादि नही करता, मन वचन कायको रोकता है, तथापि उसके मिथ्यात्व आदि चारो आस्रव पाये जाते हैं। इसलिये जो अन्तरंगमे मिथ्यात्वादिरूप रागादि भाव हैं वे ही आस्रव हैं। उन्हें नही पहचाननेसे आस्रव तत्वका भी सत्य श्रद्धान नही होता।

## बन्ध तत्त्वका अन्यथा रूप

तथा बन्ध तत्वमें जो अशुभ भावोसे नरकादिरूप पापका बन्ध होता है उसे तो बुरा मानना है। किन्तु शुभ भावोसे होनेवाले देवादिरूप पुण्य बन्धको अच्छा मानता है। सभी जीवोके दु ख सामग्रीसे द्वेष और सुख सामग्रीसे राग पाया जाता है। सो इसके भी राग द्वेष करनेका श्रद्धान हुआ।

शुभ अशुभ भावोसे अघाति कर्मोंकी तरह घाति कर्मोंका भी निरन्तर बन्ध होता है। पुण्य पापका भेद तो अघाति कर्मोमे हैं। घाति कर्म तो पापरूप ही हैं। इसलिये अशुद्ध भावोसे होनेवाले कर्म बन्धमे अच्छे बुरेका भेद करना मिथ्या श्रद्धान है। सो ऐसे श्रद्धानसे बन्धका भी यथार्थ श्रद्धान नही होता।

## संवर तत्त्वका अन्यथा रूप

संवर तत्वमे अहिंसादिरूप शुभास्रव भावो को सवर जानता है। परन्तु एकही कारणसे पुण्य बन्ध भी मानना और सवर भी मानना ठीक नही है।

प्रश्न—मुनियोके एक समयमे एक भाव होता है उससे उनके बन्ध भी होता है और सवर निर्जरा भी होती है सो कैसे ?

समाधान—वह भाव मिश्ररूप है-कुछ वीतराग हुआ है कुछ सराग रहा है। वीतराग अंशमे संवर होता है और सराग अंशसे बन्ध होता है। सो एकही भावसे दो कार्य होते हैं परन्तु एक प्रशस्त रागसे ही पुण्यास्रव भी मानना और सवर निर्जरा भी मानना भ्रम है। मिश्र भावमें भी सरागता और वीतरागताकी पहचान सम्यग्दृष्टिको ही होती है इसलिये वह शेष रही सरागताको हेयरूप श्रद्धा

करता है। किन्तु मिथ्यादृष्टिको ऐसी पहचान नहीं है इसलिये सराग भावमें सवरके भ्रमसे प्रशस्त रागरूप कार्योंको उपादेय रूप श्रद्धा करता है।

तथा सिद्धान्तमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय, चारित्र इनके द्वारा सवरका होना कहा है। किन्तु इनको भी उसे यथार्थ श्रद्धा नही है। यही कहते हैं—

**गुप्ति**—बाह्य मन वचन कायकी चेष्टा मिटानेको, पाप चिन्तन न करनेको, मौन धारण करनेको तथा गमनादि न करनेको वह गुप्ति मानता है। सो यहाँ मनमें भक्तिरूप प्रशस्त रागसे नाना विकल्प होते हैं। प्रवृत्तिमें गुप्तिपना नही बनता। वीतराग भाव होनेपर जहाँ मन वचन कायकी चेष्टा न हो वही सच्ची गुप्ति होती है।

**समिति**—पर जीवोके रक्षाके लिये यत्नाचार रूप प्रवृत्तिको समिति मानता है। यदि रक्षाके परिणामोको सवर कहोगे तो पुण्य बन्धका कारण कौन ठहरेगा। अत रक्षा ही के लिये समिति नही है।

मुनियोके किञ्चित् राग होने पर गमनादि क्रिया होती है। उन क्रियाओमें अति आसक्तिके अभावसे प्रमादरूप प्रवृत्ति नही होती। तथा अन्य जीवोको दु खी करके गमनादि नही करते। इसलिये स्वयमेव दया पलती है। यही सच्ची समिति है।

**धर्म**—बन्धादिके भयसे अथवा स्वर्ग मोक्षकी इच्छासे क्रोधादि न करनेसे क्रोधादि करनेका अभिप्राय नही मिटता। जैसे कोई राजादिके भयसे अथवा महंतपनेके लोभसे परस्त्रीका सेवन नही करता सो उसे त्यागी नही कहते। वैसे ही वह क्रोधादिका त्यागी नही है। पदार्थ इष्ट अनिष्ट भासित होनेसे क्रोधादि होते हैं। जब तत्त्व ज्ञान के अभ्याससे कोई इष्ट अनिष्ट भासित न हो तब स्वयमेव क्रोधादिक नही होते। तब सच्चा धर्म होता है।

**अनुप्रेक्षा**—अनित्य आदि चिन्तवनसे शरीरादिकको बुरा जान उनसे उदास होनेको अनुप्रेक्षा कहता है। ऐसी उदासीनता द्वेष रूप होती है क्योंकि पहले शरीरादि-से राग था पीछे उसके अवगुण देख उससे उदासीन हुआ। अपना और शरीरादिका स्वभाव पहचान, भ्रमको मिटा, भला जानकर राग नही करना और बुरा जान-कर द्वेष नही करना, ऐसी सच्ची उदासीनताके लिये अनित्यता आदिका चिन्तवन करना ही अनुप्रेक्षा है।

**परीषह जय**—भूख प्यास लगने पर उसको दूर करनेके उपाय न करनेको परीषह जय कहता है। उपाय तो नही किया परन्तु अन्तरगमे भूख लगनेपर दुःखी हुआ और रति आदिका कारण मिलनेपर सुखी हुआ तो वे सुख दुःख रूप परिणाम तो आर्तध्यान रौद्रध्यान रूप हैं। ऐसे भावोसे संवर कैसे हो? इसलिये दुःखका कारण मिलनेपर दुःखी न हो, और सुखका कारण मिलनेपर सुखी न हो, केवल उनका ज्ञाता रहे वही सच्चा परीषह जय है।

**चारित्र**—तथा हिंसादि सावद्य योगके त्यागको चारित्र मानता है और महाव्रतादि रूप शुभ योगको उपादेय रूप ग्राह्य मानता है। परन्तु तत्वार्थ सूत्रमे आस्रव का निरूपण करते हुए महाव्रत अणुव्रतको भी आस्रव रूप कहा है। तथा आस्रव तो बन्धका साधक है और चारित्र मोक्षका साधक है। इसलिये महाव्रतादि रूप आस्रव भावोसे चारित्रपना सभव नही है। समस्त कषाय रहित उदासीन भावका नाम चारित्र है।

जो चारित्र मोहके देशघाती स्पर्धकोके उदयसे महामन्द प्रशस्त राग होता है। वह चारित्रका मल है उसे छूटता न जानकर उसका त्याग नही करते, सावद्य योगका ही त्याग करते हैं। परन्तु जैसे कोई पुरुष कन्द मूलादि बहुत दोषवाली हरित कायका त्याग करता है और अन्य कितनी ही हरित कायोको खाता है परन्तु उसे धर्म नही मानता। उसी प्रकार मुनि हिंसादि रूप तीव्र कषाय भावोका त्याग करते है और मन्द कषाय रूप महाव्रतादिका पालन करते हैं परन्तु उसे मोक्षमार्ग नही मानते।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो चारित्रके तेरह भेदोमे महाव्रतादि कैसे कहे?

समाधान—वह व्यवहार चारित्र है। व्यवहार नाम उपचारका है सो महाव्रतादि होनेपर ही वीतराग चारित्र होता है ऐसा सम्बन्ध जानकर महाव्रतादिमे चारित्रका उपचार किया है। निश्चयसे तो कषाय रहित भाव ही सच्चा चारित्र है। इस प्रकार सवर कारणोको अन्यथा जानते हुए संवरका सच्चा श्रद्धान नही होता।

## निर्जरा तत्त्वका अन्यथा श्रद्धान

तथा यह अनशनादि तपसे निर्जरा मानता है। किन्तु केवल बाह्य तपसे तो निर्जरा होती नही। बाह्य तप तो शुद्धोपयोगको बढानेके लिये करते हैं। शुद्धोपयोग

निर्जराका कारण है इसलिये उपचारसे बाह्य तपको भी निर्जराका कारण कहा है। यदि बाह्य दु ख सहना ही इसका कारण हो तो तिर्यञ्चादि भी भूख प्यास सहते हैं।

प्रश्न— वे तो पराधीनतासे सहते हैं। जो स्वाधीनतासे धर्म बुद्धि पूर्वक उपवासादि तप करता है उसके निर्जरा होती है।

समाधान—धर्मबुद्धिसे उपवासादि करने पर भी यदि उपयोग अशुभ हो तो उपवासादिसे निर्जरा होना कैसे सम्भव है। यदि ऐसा कहें कि जैसा अशुभ, शुभ या शुद्धरूप उपयोग होता है उसके अनुसार बन्ध निर्जरा होते हैं तो उपवासादि तप मुख्य निर्जराका कारण कैसे रहा ? अशुभ शुभ परिणाम बन्धके कारण हुए और शुद्ध परिणाम निर्जराके कारण हुए।

प्रश्न—तत्त्वार्थ सूत्रमे 'तपसा निर्जरा च' (९-३) ऐसा क्यो कहा ?

समाधान—शास्त्रमे इच्छाके रोकनेको तप कहा है सो शुभ अशुभ इच्छा मिटने पर शुद्ध उपयोग हो तो निर्जरा होती है। इसलिये तपसे निर्जरा कही है।

प्रश्न—आहारादि रूप अशुभ इच्छाके दूर होनेपर ही तप होता है। परन्तु उपवासादि व प्रायश्चित आदि शुभ कार्यकी इच्छा तो रहती है ?

समाधान—ज्ञानी जनोको उपवासादिकी इच्छा नही रहती, एक शुद्धोपयोगकी ही इच्छा रहती है। उपवासादि करनेसे शुद्धोपयोग बढता है इसलिये उपवासादि करते हैं। तथा यदि उपवासादिसे शरीर या परिणामोकी शिथिलताके कारण शुद्धोपयोगको शिथिल होता जाने तो आहारादि ग्रहण करते हैं। यदि उपवासादिसे ही सिद्धि होती तो अजितनाथ आदि तेईस तीर्थंकर दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यो करते। उनकी तो शक्ति भी बहुत थी। परन्तु परिणामोंके अनुसार बाह्य साधन द्वारा एक वीतराग शुद्धोपयोगका अभ्यास किया।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो अनशन आदिको तप क्यों कहा ?

समाधान—उन्हें बाह्य तप कहा है। बाह्यका अर्थ यह है कि बाहरसे दूसरोंको भी दिखाई दे कि यह तपस्वी है। परन्तु फल तो जैसे होंगे वैसा ही पायेगा। क्योकि परिणाम शून्य शरीरकी क्रिया फलदायक नही होती।

प्रश्न—शास्त्रोंमें तो अकाम निर्जरा कही है। उसमें बिना इच्छाके भूख प्यास सहनेसे निर्जरा होती है। तो फिर इच्छा पूर्वक कष्ट सहनेसे निर्जरा कैसे न हो ?

समाधान—अकाम निर्जरामे बाह्य निमित्त तो बिना इच्छाके भूख प्यासका सहना होता है। यदि उसमें मन्द कषाय रूप भाव हो तो पापकी निर्जरा होती है और देवादि पुण्यका बन्ध होता है। उसी प्रकार इच्छा पूर्वक उपवासादि करनेसे भूख प्यास आदिका कष्ट सहना बाह्य निमित्त है, परन्तु फल परिणामोंके अनुसार होता है। इस प्रकार बाह्य साधनसे तपकी वृद्धि होती है। इसलिये उपचारसे उसे तप कहा है। परन्तु यदि बाह्य तप तो करे और अन्तरंग तप न हो तो उपचारसे भी वह तप नही है। कहा है—

कषाय विषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते।
उपवास स विज्ञेय. शेष लघनकं विदु ॥

अर्थ—'जहाँ कषाय, विषय और आहारका त्याग किया जाता है उसे उपवास जानना। शेषको लघन जानो।'

प्रश्न—यदि ऐसा है तो हम उपवासादि क्यो करें ?

समाधान—उपदेश तो ऊँचा चढनेके लिये दिया जाता है। तुम नीचे गिरो तो हम क्या करें। यदि तुम मानादिवश उपवास करते हो तो करना न करना बराबर है। और यदि धर्मबुद्धि आहारादिका अनुराग छोडते हो तो जितना राग छूटा उतना ही छूटा। इसीको तप मानकर और उससे निर्जरा मानकर सन्तुष्ट मत होओ।

तथा अन्तरग तपोमे प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यान रूप जो क्रियाए हैं उनमे बाह्य प्रवर्तनको तो बाह्य तपकी तरह जानना। जैसे अनशन आदि बाह्य क्रिया है, वैसे ही यह भी बाह्य क्रिया है। इसलिये बाह्य साधन रूप प्रायश्चित्तादि अन्तरंग तप नही है। ऐसा बाह्य प्रवर्तन होनेपर जो अन्तरग परिणामोकी शुद्धता हो उसका नाम अन्तरंग तप है।

उसमे भी इतना विशेष जानना कि बहुत शुद्धता होनेपर जो शुद्धोपयोग रूप परिणति होती है वहाँ निर्जरा ही है बन्ध नही है। और अल्प शुद्धता होनेपर शुभोपयोगका भी अंश रहता है इसलिये जितनी शुद्धता है उससे तो निर्जरा है और जितना शुभ भाव है उससे बन्ध है। ऐसा मिश्रभाव होता है। उससे बन्ध और निर्जरा दोनों होते हैं।

प्रश्न—शुभ भावोंसे पापकी निर्जरा और पुण्यका बन्ध होता है। परन्तु शुद्ध भावोंसे दोनोकी निर्जरा होती है ऐसा क्यो नही कहते ?

उत्तर—मोक्ष मार्गमें स्थिति तो सभी प्रकृतियोंकी घटती है उसमें पुण्य पापका विशेष नही है। और अनुभागका घटना पुण्य प्रकृतियोमें शुद्धोपयोगसे भी नही होता। ऊपर-ऊपर पुण्य प्रकृतियोंके अनुभागका तीव्र बन्ध उदय होता है। और पाप प्रकृतियोंके परमाणु पलटकर शुभ प्रकृति रूप हो जाते हैं। ऐसा सक्रमण शुभ तथा शुद्ध दोनो भाव होनेपर होता है इसलिये पूर्वोक्त नियम सभव नहीं है। विशुद्धता ही के अनुसार नियम सभव है।

देखो, चतुर्थ गुण-स्थानवाला शास्त्राभ्यास आत्मचिन्तन आदि करे तब भी निर्जरा नही और बन्ध भी बहुत है। और पंचम गुण स्थानवाला विषय सेवनादि कार्य करे फिर भी उसके गुण श्रेणि निर्जरा होती रहती है। बन्ध भी थोडा होता है। तथा पंचम गुण-स्थानवाला उपवासादि या प्रायश्चित्तादि तप करे, उस कालमें भी उसके निर्जरा थोडी होती है। और छटे गुण-स्थानवाला आहार विहारादि क्रिया करे, उस कालमें भी उसके निर्जरा बहुत होती है तथा बन्ध थोडा होता है इसलिये बाह्य प्रवृत्तिके अनुसार निर्जरा नही है अन्तरग कषाय शक्ति घटनेसे विशुद्धता होनेपर निर्जरा होती है।

इस प्रकार अनशन आदिको तप सज्ञा उपचारसे जानना। इसीसे उसे व्यवहार तप कहा है। ऐसे साधनसे जो वीतराग भावरूप विशुद्धता हो, उसे निर्जराका कारण सच्चा तप जानना। जो वीतराग भावरूप तपको न जान इन्हीको तप मानता है वह ससारमे ही भ्रमण करता है। बहुत क्या कहें, इतना समझ लेना कि निश्चय धर्ममे वीतराग भाव है, अन्य बाह्य साधन उपचारसे धर्म कहे जाते हैं। जो इस रहस्यको नही जानता उसके निर्जराका भी सच्चा श्रद्धान नही है।

## मोक्ष तत्त्वका अन्यथा रूप

जिस धर्म साधनका फल स्वर्ग मानता है उसी धर्म साधनका फल मोक्ष मानता है। कोई जीव इन्द्रादि पद प्राप्त करे, कोई मोक्ष प्राप्त करे, उन दोनोको एक जाति के धर्मका फल मानता है। ऐसा तो मानता है कि जिसके साधन थोडा होता है वह इन्द्रादि पद प्राप्त करता है और जिसके सम्पूर्ण साधन हो वह मोक्ष प्राप्त करता है।

परन्तु दोनों धर्मोंकी एक जाति मानता है सो जो कारणकी एक जाति मानता है वह कार्यकी भी एक जातिका श्रद्धान करता है, क्योंकि कारण विशेष होनेपर ही कार्य विशेष होता है। इसलिये उसके अभिप्रायमें इन्द्रादि सुख और मोक्ष सुखकी एक जातिका श्रद्धान है। किन्तु इन्द्रादिके जो सुख है वह आकुलता रूप होनेसे परमार्थमे दु:ख ही है। इसलिये इन्द्रादि सुखकी और मुक्ति सुखकी एक जाति नही है। तथा स्वर्ग सुखका कारण प्रशस्त राग है और मोक्ष सुखका कारण वीत-राग भाव है। इसलिये दोनोके कारणमे भी भेद है परन्तु उसे ऐसा भाव भासित नही होता। इसलिये मोक्षका भी उसे सच्चा श्रद्धान नही है।

इस प्रकार उसके सच्चा तत्व श्रद्धान नही है। इसलिये समयसारमे (गा २७६-२७७) कहा है कि अभव्यको तत्व श्रद्धान होनेपर भी मिथ्यादर्शन ही रहता है। तथा प्रवचनसारमे कहा है आत्मज्ञान शून्य तत्व श्रद्धान कार्यकारी नही है।

## सम्यग्ज्ञानका अन्यथा स्वरूप

शास्त्रमे शास्त्राभ्यास करनेसे सम्यग्ज्ञान होना कहा है। इसलिये शास्त्राभ्यासमे तत्पर रहता है। परन्तु उसके प्रयोजनपर दृष्टि नही रखता। स्वय शास्त्राभ्यास करके दूसरोको सम्बोधन करनेका तो अभिप्राय रखता है। परन्तु शास्त्राभ्यास तो अपने लिये किया जाता है। अवसर पाकर परका भी भला होता हो तो परका भी भला करे। किन्तु शास्त्रका भाव जानकर अपना भला करना चाहिये।

कितने ही जीव पुण्य पापादि फलके निरूपक पुराणादि शास्त्रोका, पुण्य पाप क्रियाके निरूपक आचारादि शास्त्रोका, गुण स्थान, मार्गणा, कर्म प्रकृति, त्रिलोकादि के निरूपक करणानुयोग शास्त्रोका अभ्यास करते है परन्तु यदि इनका प्रयोजन नही विचारते तब तो तोते जैसा पढना हुआ। और यदि इनका प्रयोजन विचारते हैं तो पापको बुरा जानना, पुण्यको भला जानना, तथा जितना इनका अभ्यास करेंगे उतना हमारा भला है, इत्यादि प्रयोजनका विचार करनेसे इतना तो होगा कि नरकादि नही होगा, स्वर्गादि होगा, परन्तु मोक्ष मार्गकी प्राप्ति नही होगी।

प्रथम सच्चा तत्वज्ञान हो, फिर पुण्य पापके फलको संसार जानें, शुद्धोपयोग से मोक्ष माने, गुण स्थानादिको जीवका व्यवहार निरूपण जाने। इत्यादि श्रद्धान करता हुआ इनका अभ्यास करे तो सम्यग्ज्ञान हो।

सो तत्त्वज्ञानके कारण अध्यात्मरूप द्रव्यानुयोगके शास्त्र हैं। कितने ही जीव उन शास्त्रोंका भी अभ्यास करते हैं। परन्तु वहाँ जैसा लिखा है वैसा निर्णय स्वय करके आपको आपरूप, परको पररूप, और आस्रवादिको आस्रवादिरूप श्रद्धान नही करते। मुखसे तो वह जैसा लिखा है वैसा उपदेश देता है परन्तु स्वय अनुभव नही करता। यदि स्वयको श्रद्धान हुआ होता, अन्य तत्त्वका अंश अन्यमे न मिलाता, परन्तु इसका ठिकाना नही है, इसलिये सम्यग्ज्ञान नही होता।

प्रश्न—ज्ञान तो होता है परन्तु जैसा अभव्यसेनको श्रद्धान रहित ज्ञान हुआ वैसा होता है ?

समाधान—वह तो पापी था। परन्तु जो जीव ग्रैवेयक आदिमे जाता है उसके ऐसा ज्ञान होता है वह तो श्रद्धान रहित नही है। उसके तो ऐसा ही श्रद्धान है कि ये ग्रन्थ सच्चे हैं। परन्तु तत्त्व श्रद्धान सच्चा नही है। समयसारमें एक ही जीवके धर्मका श्रद्धान ग्यारह अगका ज्ञान और महाव्रतादिका पालन करना लिखा है। प्रवचनसारमे लिखा है कि आगम ज्ञान ऐसा हुआ जिसके द्वारा सब पदार्थोंको हस्तामलकवत् जानता है। यह भी जानता है कि इनका जानने वाला मै हू। परन्तु 'मैं ज्ञान स्वरूप हू' इस प्रकार स्वयको परद्रव्यसे भिन्न केवल चैतन्य द्रव्यरूप अनुभव नही करता। इसलिये आत्मज्ञान शून्य आगम ज्ञान भी कार्यकारी नही है।

इस प्रकार यह सम्यग्ज्ञानके लिये जैन शास्त्रोका अभ्यास करता है तथापि सम्यग्ज्ञान नही है।

## सम्यक् चारित्रका अन्यथा रूप

जैनधर्म में ऐसा उपदेश है कि पहले तो तत्त्वज्ञानी हो, फिर जिसका त्याग करे उसके दोष पहचाने। त्याग करनेमे जो गुण हो उन्हें जाने। फिर अपने परिणामो को ठीक करे। वर्तमान परिणामो के ही भरोसे प्रतिज्ञा न कर बैठे। भविष्यमे निर्वाह होता जाने तो प्रतिज्ञा करे। तथा शरीरकी शक्ति व द्रव्य क्षेत्र काल भावादि का विचार करे। इस प्रकार विचार करके प्रतिज्ञा करना चाहिए। वह भी ऐसी करनी जिससे प्रतिज्ञाके प्रति निरादर भाव न हो। परिणाम चढ़ते रहें। ऐसी जैनधर्मकी आम्नाय है।

प्रश्न—चाण्डालादिने प्रतिज्ञा की, उसके इतना विचार कहाँ ?

समाधान—मरणपर्यन्त कष्ट हो तो हो, परन्तु प्रतिज्ञा नही छोडना, ऐसा विचारकर वे प्रतिज्ञा करते हैं। उनके प्रतिज्ञाके प्रति निरादरपना नहीं होता और सम्यग्दृष्टि तो तत्त्वज्ञान पूर्वक ही प्रतिज्ञा करते हैं।

जो अन्तरंगमें विरक्तताके बिना बाह्यमें प्रतिज्ञा धारण करते हैं। वे प्रतिज्ञाके पहले और बादमे जिसकी प्रतिज्ञा करे उसमें अति आसक्त होते हैं। जैसे उपवासके धारणे पारणेके भोजनमे अतिलोभी होकर गरिष्ठादि भोजन करते हैं और प्रतिज्ञा पूर्ण होते ही अत्यन्त विषयासक्त हो जाते है। सो प्रतिज्ञाके कालमे विषय वासना मिटी नही। आगे पीछे उसके बदले अधिक राग किया। किन्तु फल तो रागभाव मिटने से होगा। इसलिए जितनी विरक्ति हुई हो उतनी प्रतिज्ञा करनी। महामुनि भी थोडी प्रतिज्ञा करके आहारादिमे कमी करते हैं। और बडी प्रतिज्ञा करते हैं तो अपनी शक्ति देखकर करते हैं। जिस प्रकार परिणाम ऊपर चढते रहे वैसा करते हैं। प्रमाद भी न हो और आकुलता भी न हो, ऐसी प्रवृत्ति कार्यकारी जानना।

धर्म को न जाननेवाले जीव किसी धर्मके अंग को मुख्य करके अन्य धर्मोको गौण करते हैं। जैसे कोई जीव दया धर्मको मुख्य करके पूजा प्रभावना आदि कार्योंका निषेध करते है और कितने ही पूजा प्रभावनादि कार्योंको मुख्य करके हिंसादिका भय नही करते। कितने ही दान की मुख्यतासे बहुत पाप करके भी धन उपार्जन करके दान देते है। इसी प्रकार अविवेकी जीव अन्यथा धर्म करते है उनके तो सम्यक् चारित्रका आभास भी नही होता।

कितने ही जीव अणुव्रत महाव्रतादिरूप यथार्थ आचरण करते हैं। आचरणके अनुसार ही परिणाम होते है। उन्हे धर्म मानकर मोक्षके लिए उनका साधन करते हैं। स्वर्गादि भोगोकी भी इच्छा नही रखते। परन्तु तत्त्वज्ञान न होनेसे यह तो जानते हैं कि मैं मोक्षका साधन करता हूँ, परन्तु मोक्षके साधनको नही जानते, केवल स्वर्गादिका ही साधन करते हैं, क्योकि फल प्रतीतिके अनुसार नही होता, साधनाके अनुसार होता है। शास्त्रमें कहा है कि चारित्रके साथ सम्यक्-पद अज्ञान-पूर्वक आचरण की निवृत्तिके लिए है। इसलिए प्रथम तत्त्वज्ञान हो, पश्चात् चारित्र हो तो सम्यक्चारित्र नाम पाता है। जैसे कोई किसान बीज तो

बोवे नहीं और अन्य साधन करे तो अन्न प्राप्ति कैसे हो? घास फूस ही होगा। उसी प्रकार अज्ञानी तत्त्वज्ञान का तो अभ्यास करते नहीं और अन्य साधन करे तो मोक्ष प्राप्ति कैसे हो?

यहाँ कितने ही जीव तो ऐसे हैं जो तत्त्वादिके नाम भी नहीं जानते, केवल व्रतादिमे ही लगे रहते हैं। कितने ही जीव ऐसे हैं जो सम्यग्दर्शन ज्ञानका अयथार्थ साधन करके व्रतादिमें प्रवर्तते हैं। यद्यपि वे व्रतादिका यथार्थ आचरण करते हैं तथापि यथार्थ श्रद्धान ज्ञान बिना सर्व आचरण मिथ्याचारित्र है। यही समयसार कलशमे कहा है—

> क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
> क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
> साक्षान्मोक्षमिदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
> ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१४२॥

अर्थ—मोक्षसे पराड्मुख अति कठिन पंचाग्नि तप आदि कार्यों द्वारा आप क्लेश उठाते हो तो उठाओ। तथा अन्य कितने ही जीव महाव्रत और तपके भारसे चिरकाल तक पीडित क्लेश उठाते हैं तो उठाओ। परन्तु साक्षात् मोक्ष स्वरूप सर्व रोग रहित पद, जो अपने आप अनुभव में आए ऐसा ज्ञानस्वभाव वह तो ज्ञानगुणके बिना अन्य किसी भी प्रकारसे प्राप्त करनेमे समर्थ नही है।

तथा प्रवचनसारमे आत्मज्ञान शून्य सयमको निरर्थक कहा है। इसलिये तत्त्व-ज्ञान होनेपर ही आचरण कार्यकारी है।

जो बाह्यमे तो अणुव्रत महाव्रतादि साधते हैं परन्तु अन्तरग परिणाम नही है तथा स्वर्गादिकी वान्छासे साधते हैं। सो इस प्रकार साधनेसे तो पाप बन्ध होता है। द्रव्यलिंगी मुनि अन्तिम ग्रैवेयक तक जाते हैं और अनन्त बार ऐसा होना लिखा है। सो ऐसे उच्च पद तभी प्राप्त होते हैं जब अन्तरंग परिणाम पूर्वक महाव्रत पाले, मंदकषायी हो, इस लोक-परलोक सम्बन्धी भोगादिकी चाह न हो, केवल धर्म बुद्धिसे मोक्षाभिलाषी हुआ साधना साधे। इसलिये द्रव्यलिंगीके स्थूल अन्यथापना नही है सूक्ष्म अन्यथापना है।

अब इनमें धर्म साधन कैसे है और इसमें अन्यथापना कैसे है सो कहते हैं—

ये किसी परद्रव्यको बुरा जानकर अनिष्ट रूप श्रद्धान करते हैं और किसी परद्रव्यको भला जानकर इष्ट रूप श्रद्धान करते हैं। सो परद्रव्योमें इष्ट अनिष्ट रूप श्रद्धान तो मिथ्या है।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि भी तो बुरा जानकर परद्रव्यका त्याग करते हैं।

समाधान—सम्यग्दृष्टि परद्रव्योको बुरा नही जानते, अपने राग भावको बुरा जानते हैं। अत राग भावको छोडते हैं इसलिये उसके कारण का भी त्याग करते हैं। वस्तुका विचार करनेसे कोई परद्रव्य तो बुरा भला है नही।

प्रश्न—निमित्त तो है ?

उत्तर—परद्रव्य जबरन तो बिगाडता नही। जब अपने भाव बिगडते हैं तब वह भी बाह्य निमित्त होता है। तथा उसके निमित्त बिना भी भाव बिगडते हैं। इसलिये नियम रूपसे निमित्त भी नही है। इस प्रकार परद्रव्यका दोष देखना मिथ्याभाव है। रागादि भाव ही बुरे हैं परन्तु उसके ऐसी समझ नही है। यह परद्रव्योंके दोष देख उनमे द्वेपरूप उदासीनता करता है। सच्ची उदासीनता तो उसका नाम है जो किसी परद्रव्यका दोष या गुण भासित न होनेपर उन्हे बुरा भला न जाने। आपको आप जाने, परको पर जाने। परमे मेरा कुछ भी प्रयोजन नही है ऐसा मान साक्षीभूत रहे। सो ऐसी उदासीनता ज्ञानीके ही होती है।

तथा यह उदासीन होकर शास्त्रमे जो अणुव्रत महाव्रत रूप व्यवहार चारित्र कहा है उसको अगीकार करता है। एकदेश या सर्वदेश हिंसादि पापको छोडता है। उनके स्थानपर अहिंसादि रूप पुण्यकार्योंमे प्रवृत्त होता है। तथा जैसे पर्यायाश्रित पापकार्योंमे कर्त्तापना मानता था वैसे ही अब पर्यायाश्रित पुण्यकार्योंमे अपना कर्त्तापना मानने लगा। ऐसे पर्यायाश्रित कार्योंमें अह बुद्धि माननेकी समानता हुई। जैसे, मै जीवोको मारता हूँ, मै परिग्रहधारी हूँ इत्यादि रूप मानता था वैसे ही मै जीवोकी रक्षा करता हू, मै नग्न परिग्रह रहित हू, ऐसा मानता है। सो पर्यायाश्रित कार्योंमे अह बुद्धि ही मिथ्यादृष्टि है। वही समयसारमे कहा है—

> ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसावृता. ।
> सामान्य जनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षुताम् ॥

—स. कलश १९९।

अर्थ—जो जीव मिथ्या अन्धकार व्याप्त होते हुए अपनेको पर्यायाश्रित क्रिया का कर्ता मानते है। वे जीव मोक्षाभिलाषी हैं फिर भी जैसे अन्यमती सामान्य पुरुषोंको मोक्ष नही होता वैसे ही उन्हें भी मोक्ष नही होता। क्योंकि कर्तापनेकी श्रद्धानकी समानता है।

तथा इस प्रकार आप कर्ता होकर श्रावक धर्म अथवा मुनिधर्मकी क्रियाओंमें मन वचन कायकी प्रवृत्ति निरन्तर रखता है। जैसे उन क्रियाओंमें भग न हो वैसे प्रवर्तता है। सो ऐसे भाव तो सराग है। और चारित्र है सो वीतराग स्वरूप है। अत ऐसे साधनको मोक्षमार्ग मानना मिथ्या बुद्धि है।

प्रश्न—सराग वीतरागके भेदसे दो प्रकारका चारित्र कहा है सो कैसे कहा है?

उत्तर—जैसे चावल दो प्रकारके हैं—एक तुष सहित और एक तुष रहित। यहाँ ऐसा जानना कि तुष चावलका स्वरूप नही है। चावलमे दोष है। कोई समझदार तुष सहित चावलका सग्रह करता था। उसको देखकर कोई भोला तुषोको ही चावल मान सग्रह करता है तो वृथा ही खेद खिन्न होता है। वैसे ही चारित्र दो प्रकारका है—एक सराग और एक वीतराग। वहाँ ऐसा जानना कि राग चारित्रका स्वरूप नही है, चारित्रमे दोष है। कितने ही ज्ञानी प्रशस्त राग सहित चारित्र धारण करते है। उन्हें देख कोई अज्ञानी प्रशस्त रागको ही चारित्र मानकर सग्रह करे तो वृथा ही खेद खिन्न होगा।

प्रश्न—पापक्रिया करनेसे तीव्र रागादिक होते थे। अब इन क्रियाओंके करने पर मन्द राग हुआ। इसलिये जितने अशोमें रागभाव कम हुआ उतने अशोमें तो चारित्र कहो। जितने अशोमे राग रहा उतने अशोमे राग कहो। इस प्रकार उसके सराग चारित्र सम्भव है?

समाधान—यदि तत्त्व-ज्ञानपूर्वक ऐसा हो तो जैसा तुम कहते हो उसी प्रकार है। तत्त्वज्ञान बिना उत्कृष्ट आचरण होनेपर भी असंयम नाम ही पाता है। क्योंकि रागभाव मिटानेका अभिप्राय नही मिटता। यही बतलाते है—

द्रव्यलिङ्गी मुनि राज्यादिको छोड निर्ग्रन्थ होता है। अठाईस मूल गुणोंको पालता है। उग्रसे उग्र अनशनादि बहुत तप करता है। क्षुधादिक बाईस परीषह सहता है। शरीरके खण्ड खण्ड होनेपर भी व्यग्र नही होता। व्रतभंगके अनेक

कारण मिलने पर भी दृढ़ रहता है किसी पर क्रोध नही करता। ऐसे साधनोंका मान नही करता। ऐसे साधनोमे कोई कपट नही है। इन साधनो द्वारा इस लोक और परलोकमे विषय सुखको नही चाहता। ऐसी उसकी दशा होती है। यदि ऐसी दशा न हो तो ग्रैवेयक पर्यन्त कैसे पहुँचे। परन्तु उसे शास्त्रमें असंयमी मिथ्या दृष्टि ही कहा है। सो उसका कारण यह है कि उसके तत्वोका श्रद्धान-ज्ञान सच्चा नही है। पहले वर्णन किया उस प्रकार तत्वोका श्रद्धान ज्ञान हुआ है। उसी अभिप्रायसे सब साधन करता है। सो इन साधनोंके अभिप्रायकी परम्पराका विचार करने पर कषायोका अभिप्राय आता है। सो कैसे है, सो सुनो—

यह पापके कारण रागादिकको तो हेय जान छोडता है। परन्तु पुण्यके कारण प्रशस्त रागको उपादेय मानता है। उसके बढनेका उपाय करता है। सो प्रशस्त राग भी तो कषाय है! कषायको उपादेय माना तो कषाय करनेका ही श्रद्धान रहा। अप्रशस्त परद्रव्योसे द्वेष करके प्रशस्त परद्रव्योंसे राग करनेका अभिप्राय हुआ। कुछ परद्रव्योम साम्यभाव रूप अभिप्राय नही हुआ।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि भी तो प्रशस्त रागका उपाय रखता है ?

उत्तर—जैसे किसीका बहुत दण्ड होता था, वह थोडा दण्ड देनेका उपाय रखता है। और थोडा दण्ड देनेपर हर्ष मानता है। परन्तु श्रद्धानमे दण्ड देना अनिष्ट ही मानता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिके पापरूप बहुत कषाय होता था सो वह पुण्यरूप थोडा कषाय करनेका उपाय रखता है। और थोडी कषाय होनेपर हर्ष भी मानता है। परन्तु श्रद्धानमे कषायको हेय ही मानता है। जैसे कोई कमाईका कारण जान व्यापारादिका उपाय रखता है। उपाय बन आनेपर हर्ष मानता है। उसी प्रकार द्रव्यलिङ्गी मोक्षका कारण जान प्रशस्त रागका उपाय रखता है। उपाय बन आनेपर हर्ष मानता है। इस प्रकार प्रशस्त रागके उपायमे और हर्षमे समानता होनेपर भी सम्यग्दृष्टिके तो दण्ड समान और मिथ्यादृष्टिके व्यापार समान श्रद्धान पाया जाता है। इसलिये अभिप्रायमें भेद है।

इसलिये यह द्रव्यलिङ्गी विषय सेवन छोड तपश्चरणादि करता है तथापि असयमी ही है। सिद्धान्तमे असंयत व देश सयत सम्यग्दृष्टिसे भी उसे हीन कहा है क्योकि उनके चौथा पाचवां गुणस्थान है और इसके पहला ही है।

प्रश्न—असंयत और देश सयत सम्यग्दृष्टिके कषायोकी प्रवृत्ति विशेष है और द्रव्यलिगी मुनिके थोडी है। इसीसे असंयत और देश सयत सम्यग्दृष्टी तो सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त ही जाते हैं और द्रव्यलिगी अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त जाता है। इसलिये भावलिंगी मुनिसे द्रव्यलिंगी मुनि हीन कहो, किन्तु उसे असयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टिसे हीन कैसे कहा जाये।

समाधान—असंयत व देशसयत सम्यग्दृष्टीके कषायोंकी प्रवृत्ति तो है परन्तु श्रद्धानमे किसी भी कषायके करनेका अभिप्राय नही है। तथा द्रव्यलिगीके शुभ कषाय करनेका अभिप्राय पाया जाता है। श्रद्धानमे उन्हे भला जानता है। इसलिये श्रद्धानकी अपेक्षा असयत सम्यग्दृष्टिसे भी इसके अधिक कषाय है। तथा द्रव्यलिंगी के योगोकी प्रवृत्ति शुभरूप बहुत होती है। और अघाति कर्मोमे पुण्य-पाप बन्धका विशेष शुभ-अशुभ योगोके अनुसार है। इसलिये वह अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त जाता है। परन्तु वह कुछ कार्यकारी नही। क्योकि अघातिया कर्म आत्म गुणके घातक नही हैं। उनके उदयसे उच्च नीच पद प्राप्त किये तो क्या हुआ। वे तो बाह्य सयोग मात्र ससार दशाके स्वाग हैं।

आप तो आत्मा है इसलिये आत्मगुणके घातक जो घातिया कर्म हैं उनकी हीनता कार्यकारी है। उन घातिया कर्मोंका बन्ध बाह्य प्रवृत्तिके अनुसार नही है, अन्तरग कषाय शक्तिके अनुसार है। इसलिये द्रव्यलिंगीकी अपेक्षा असयत व देश सयत सम्यग्दृष्टिके घाति कर्मोका बन्ध थोडा होता है। द्रव्यलिंगीके तो सर्व घाति कर्मोंका बन्ध बहुत स्थिति अनुभाग सहित होता है। और असयत व देशसयत सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी आदि कर्मोंका तो बन्ध है ही नही शेषका बन्ध होता है वह अल्प स्थिति अनुभाग सहित होता है। तथा द्रव्यलिंगीके कदापि गुण श्रेणी निर्जरा नही होती। सम्यग्दृष्टिके कदाचित् होती है और देश व सकल सयम होनेपर निरन्तर होती है। इसीसे द्रव्यलिंगीको शास्त्रमें असयत व देश सयत सम्यग्दृष्टिसे हीन कहा है। समयसार शास्त्रमें द्रव्यलिंगी मुनिकी हीनता गाथा, टीका और कलशोमे प्रकटकी है। तथा पचास्तिकाय टीकामें जहाँ केवल व्यवहारावलम्बी का कथन किया है वहाँ व्यवहार पचाचार होनेपर भी उसकी हीनता ही प्रकटकी है। तथा प्रवचनसारमें संसार तत्व द्रव्यलिंगीको कहा है। परमात्म प्रकाश आदि

अन्य शास्त्रोंमें भी इस व्याख्यानको स्पष्ट किया है। द्रव्यलिंगीके जो जप, तप, शील संयमादि क्रियाए पाई जाती हैं उन्हें भी इन शास्त्रोमे जहाँ तहाँ अकार्यकारी बतलाया है। सो वहाँ देख लेना। यहाँ ग्रन्थ बढ जानेके भयसे नही लिखते हैं। इस प्रकार केवल व्यवहाराभासके अवलम्बी मिथ्यादृष्टियोंका निरूपण किया।

## निश्चय-व्यवहार नयाभासावलम्बीका स्वरूप

अब जो निश्चय-व्यवहार दोनो नयोके आभासका अवलम्बन लेते हैं ऐसे मिथ्यादृष्टियोका निरूपण करते हैं—

जो जीव ऐसा मानते हैं कि जिनमतमे निश्चय व्यवहार दोनो नय कहे हैं। इसलिये हमें उन दोनोको स्वीकार करना चाहिये। ऐसा विचार कर जैसा केवल निश्चयाभासके अवलम्बियोका कथन किया है वैसा तो निश्चयको अगीकार करते हैं। और जैसा केवल व्यवहाराभासके अवलम्बियोंका कथन किया था वैसे व्यवहार को अंगीकार करते हैं। यद्यपि इस प्रकार अगीकार करनेमे दोनो नयोमे परस्पर विरोध है तथापि करें क्या, सच्चा तो दोनो नयोका स्वरूप भासित हुआ नही और जिनमतमे दो नय कहे हैं उनमेसे किसीको छोडा भी नही जाता, इसलिये भ्रमसहित दोनोका साधन करते हैं। वे जीव भी मिथ्यादृष्टि जानना।

अब इनकी प्रवृत्तिका विशेष बतलाते हैं—

अन्तरगमे आप तो निर्धार करके यथावत् निश्चय व्यवहार मोक्ष मार्गको पहचाना नही। जिन आज्ञा मान निश्चय व्यवहाररूप मोक्षमार्ग दो प्रकार मानते है। सो मोक्षमार्ग दो नही है, मोक्षमार्गका निरूपण दो प्रकार है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्गको मोक्षमार्ग निरूपित किया जाये वह निश्चय मोक्षमार्ग है। और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नही, परन्तु मोक्षमार्गका निमित्त है, वा सहचारी है उसे उपचारसे मार्ग कहते है वह व्यवहार मोक्षमार्ग है। क्योकि निश्चय और व्यवहारका सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण निश्चय और उपचार निरूपण व्यवहार। इसलिये निरूपणकी अपेक्षा दो प्रकारका मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय मोक्षमार्ग और एक व्यवहार मोक्षमार्ग। इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है तथा निश्चय और व्यवहार दोनोको उपादेय मानते हैं सो भी भ्रम है क्योकि निश्चय और व्यवहारका स्वरूप तो परस्परमें विरोध लिये है।

क्योंकि समयसारमें कहा है—

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदोदु सुद्धणओ ॥११॥

अर्थ—व्यवहार अभूतार्थ है–सत्य स्वरूपका निरूपण नही करता। किसी अपेक्षा उपचारसे अन्यथा निरूपण करता है। तथा शुद्ध नय जो निश्चयनय है वह भूतार्थ है। जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा निरूपण करता है। इस प्रकार इन दोनो का स्वरूप विरुद्धताको लिये हुए है।

तथा तू ऐसा मानता है कि सिद्ध समान शुद्ध आत्माका अनुभवन सो निश्चय है और व्रत शील सयमादिरूप प्रवृत्ति व्यवहार है। किन्तु ऐसा तेरा मानना ठीक नही है। क्योकि किसी द्रव्य भावका नाम निश्चय और किसीका नाम व्यवहार ऐसा नही है। एक ही द्रव्यके भावको उस रूप ही निरूपण करना निश्चय नय है। उपचारसे उस द्रव्यके भावको अन्य द्रव्यका निरूपण करना व्यवहार नय है। जैसे मिट्टीके घडेको मिट्टीका घडा कहना निश्चय है। और घीके सयोगके उपचारसे उसे घीका घडा कहना व्यवहार है। ऐसे ही अन्यत्र जानना। इसलिये तू किसीको निश्चय माने और किसीको व्यवहार माने सो भ्रम है। तथा तेरे माननेमे भी निश्चय व्यवहारमे परस्पर विरोध आया। जो तू अपनेको सिद्ध समान शुद्ध मानता है तो व्रतादि क्यो करता है? यदि व्रतादिका साधन कर सिद्ध हुआ चाहता है तो वर्तमानमे शुद्ध आत्माका अनुभवन मिथ्या हुआ। इस प्रकार दोनो नयोमे परस्पर विरोध है। इसलिये दोनो नयोका उपादेयपना नही बनता।

प्रश्न—समयसारादिमें शुद्ध आत्माके अनुभवको निश्चय कहा है। व्रत तप सयमादिको व्यवहार कहा है वैसा ही हम मानते है?

समाधान—शुद्ध आत्माका अनुभव सच्चा मोक्षमार्ग है। इसलिये उसे निश्चय कहा है। यहाँ स्वभावसे अभिन्न और परभावसे भिन्न ऐसा शुद्ध शब्दका अर्थ जानना। ससारीको सिद्ध मानना ऐसा भ्रमरूप अर्थ शुद्ध शब्दका नही जानना। तथा व्रत तप आदि मोक्षमार्ग नही हैं। निमित्तादिककी अपेक्षा उपचारसे इनको मोक्षमार्ग कहते हैं। इस प्रकार भूतार्थ अभूतार्थ मोक्षमार्गपनेसे इनको निश्चय व्यवहार कहा है। सो ऐसा ही जानना। तथा ये दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं। किन्तु इन दोनोंको उपादेय मानना मिथ्या बुद्धि है।

इसपर वह कहता है—श्रद्धान तो निश्चयका रखते हैं और प्रवृत्ति व्यवहार रूप रखते हैं। इस प्रकार हम दोनोंको अगीकार करते हैं। सो ऐसा भी नहीं बनता। क्योंकि निश्चयका निश्चयरूप और व्यवहारका व्यवहाररूप श्रद्धान करना युक्त है। एकही नयका श्रद्धान करनेसे एकान्त मिथ्यात्व होता है। तथा प्रवृत्तिमें नयका प्रयोजन ही नही है। प्रवृत्ति तो द्रव्यकी परिणति है वहाँ जिस द्रव्यकी परिणति हो उसको उसीकी कहना निश्चयनय, और उसको अन्य द्रव्यको कहना सो व्यवहारनय, ऐसे अभिप्राय अनुसार प्ररूपणसे उस प्रवृत्तिमे दोनों नय बनते हैं। कुछ प्रवृत्ति ही तो नयरूप नही है। इसलिये इस प्रकार भी दोनो नयोका ग्रहण मानना मिथ्या है। तो क्या करें? सो कहते हैं—

निश्चयसे जो निरूपण किया हो उसे सत्यार्थ मान उसका श्रद्धान करना और व्यवहारनयसे जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मान उसका श्रद्धान छोडना। यही समयसार कलशमे कहा है—

> सर्वत्राऽध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै—
> स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः ॥
> सम्यग् निश्चयमेकमेव परमं निष्कम्पमाक्रम्य किं
> शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥१७३॥

अर्थ—क्योकि सर्वही हिंसादि व अहिंसादिमें अध्यवसाय है सो समस्त ही छोडना, ऐसा जिनदेवोने कहा है। इसलिये मैं ऐसा मानता हू कि जो पराश्रित व्यवहार है वह सब ही छुडाया है। सन्त पुरुष एक परम निश्चयको ही भले प्रकार निश्चयरूपसे अगीकार करके शुद्ध ज्ञानघन रूप निज महिमामें स्थिति क्यो नही करते?

यहाँ व्यवहारका तो त्याग कराया है अत निश्चयको अगीकार करके निज महिमारूप प्रवर्तना युक्त है। तथा षट्पाहुडमें कहा है—

> जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
> जो जग्गइ ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥३१॥

(मोक्षपाहुड)

अर्थ—जो व्यवहारमें सोता है वह योगी अपने कार्यमें जागता है। और जो व्यवहारमें जागता है वह अपने कार्यमें सोता है।

अतः व्यवहार नयका श्रद्धान छोड़ निश्चयका श्रद्धान करना योग्य है। व्यवहार नय स्वद्रव्य परद्रव्यको अथवा उनके भावोको व कारण कार्यादिको किसीको किसीमें मिलाकर निरूपण करता है। सो ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है। इसलिये उसका त्याग करना। तथा निश्चयनय उन्हीको यथावत् निरूपण करता है, किसीको किसीमे नही मिलाता। ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है। इसलिये उसका श्रद्धान करना।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें दोनो नयोंका ग्रहण करना कहा है सो कैसे ?

समाधान—जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है। उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही हैं' ऐसा जानना और कही व्यवहार नयकी मुख्यतासे व्याख्यान है। उसे 'ऐसा नही है' निमित्तादिकी अपेक्षा उपचार किया है, ऐसा जानना। इस प्रकार जाननेका नामही दोनो नयोका ग्रहण है। तथा दोनो नयोके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर ऐसे भी है, ऐसे भी है, इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन द्वारा तो दोनो नयोका ग्रहण करना नही कहा है।

प्रश्न—जो व्यवहार नय असत्यार्थ है तो उसका उपदेश जिनमार्गमें क्यो दिया ? एक निश्चयनयका ही निरूपण करना था।

समाधान—ऐसा ही तर्क समयसारमें किया है वहाँ यह उत्तर दिया है—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उगाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥८॥

अर्थ—जैसे अनार्य अर्थात् म्लेच्छको म्लेच्छ भाषा बिना अर्थ ग्रहण करानेमें कोई समर्थ नही है। उसी प्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश अशक्य है। इसलिये व्यवहारका उपदेश है।

इसी सूत्रकी व्याख्यामें ऐसा कहा है—'व्यवहारनयो नानुसर्तव्य।' इसका अर्थ है कि निश्चयनयके अंगीकार करानेको व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं। किन्तु व्यवहार नय अंगीकार करने योग्य नही है।

प्रश्न—व्यवहारके बिना निश्चयका उपदेश कैसे नहीं होता और व्यवहारको कैसे अंगीकार करना, सो कहो ?

समाधान—निश्चय नयसे तो आत्मा परद्रव्यसे भिन्न, स्वभावसे अभिन्न स्वयं सिद्ध वस्तु है। उसे जो नही पहिचानते उनसे इसी प्रकार कहते रहनेसे तो वे समझेंगे नही। तब उनको व्यवहार नयसे शरीरादि परद्रव्योकी सापेक्षता द्वारा नर, नारक, पृथ्वी, कायादिक रूप जीवके भेद किये। तब मनुष्य जीव है, नारकी जीव है, इत्यादि प्रकार लिये उसे जीवकी पहिचान हुई।

अथवा अभेदरूप वस्तुमें भेद उत्पन्न करके ज्ञान दर्शन आदि गुणपर्यायरूप जीवके भेद किये, तब जानने वाला जीव है, देखनेवाला जीव है, इत्यादि प्रकारसे उसे जीवकी पहिचान हुई।

तथा निश्चयसे वीतराग भाव मोक्षमार्ग है। उसे जो नही पहिचानते उनसे ऐसा ही कहते रहनेसे वे समझते नही। तब उनको व्यवहारनयसे तत्त्व श्रद्धान ज्ञान पूर्वक परद्रव्यका निमित्त मेटने की सापेक्षता द्वारा व्रतशील संयमादिरूप वीतराग भावके विशेष बतलाये। तब उन्हे वीतराग भावकी पहिचान हुई। इसी प्रकार अन्यत्र भी व्यवहारके बिना निश्चयका उपदेश न होता जानना।

तथा यहा व्यवहारसे नर नारकादि पर्यायको जीव कहा सो पर्यायको ही जीव न मान लेना। पर्याय तो जीव पुद्गलके सयोगरूप है। किन्तु निश्चयसे जीव द्रव्य जुदा है उसे ही जीव मानना। जीवके सयोगसे शरीरादिको भी उपचारसे जीव कहा सो कथन मात्र ही है। परमार्थसे शरीरादि जीव नही होते। ऐसा ही श्रद्धान करना। तथा अभेदरूप आत्मामें ज्ञान दर्शनादि भेद किये। सो उन्हे भेदरूप ही न मान लेना। भेद तो समझानेके लिये है। निश्चयसे आत्मा अभेदरूप ही है। उसी ही को जीव वस्तु मानना। सज्ञा सख्या आदिसे भेद कहे सो कहने मात्र हैं। परमार्थसे जुदे जुदे नही हैं। ऐसा ही श्रद्धान करना।

तथा परद्रव्यका निमित्त मेटनेकी अपेक्षा व्रतशील संयमादिको मोक्षमार्ग कहा। सो इस ही को मोक्षमार्ग न मान लेना। क्योंकि यदि आत्माके परद्रव्यका ग्रहण त्याग हो तो आत्मा परद्रव्यका कर्ता हर्ता हो। सो कोई द्रव्य किसी द्रव्यके अधीन है नही। अत आत्मा अपने रागादि भावोंको छोड़नेसे वीतरागी होता है। सो निश्चयसे वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग है। वीतराग भावोमें और व्रतादिकमें कदाचित् कार्य कारणपना है। इसलिये व्रतादिको मोक्षमार्ग कहें सो कथन मात्र ही है।

परमार्थसे बाह्य क्रिया मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा ही श्रद्धान करना। इसी प्रकार अन्यत्र भी व्यवहार नयका अंगीकार करना जानना।

प्रश्न—व्यवहार नय परको उपदेशमें ही कार्यकारी है या अपना भी प्रयोजन साधता है ?

समाधान – आप भी जब तक निश्चय नयसे प्ररूपित वस्तुको न पहिचाने तब तक व्यवहार मार्गसे वस्तुका निश्चय करे। अत नीचेकी दशामें अपनेको भी व्यवहार नय कार्यकारी है। परन्तु व्यवहारको उपचार मात्र मान उसके द्वारा वस्तुको ठीक प्रकारसे समझे तभी कार्यकारी है। यदि निश्चयकी तरह व्यवहारको भी सत्य भूत मानकर 'वस्तु ऐसे ही है' ऐसा श्रद्धान करे तो उल्टा अकार्यकारी हो जाय। ऐसा ही पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमे कहा है—

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥६॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७॥

अर्थ—मुनिराज अज्ञानीको समझानेके लिये असत्यार्थ व्यवहार नयका उपदेश देते हैं। जो केवल व्यवहारको ही जानता है उसे उपदेश देना योग्य नहीं है। जैसे जो सच्चे सिंहको नही जानता वह बिलावको ही सिंह समझता है उसी प्रकार जो निश्चयको नही जानता उसके व्यवहार ही निश्चयपनेको प्राप्त होता है।

यहाँ कोई निर्विकार पुरुष ऐसा कहता है—तुम व्यवहारको असत्यार्थ हेय कहते हो तो हम व्रतशील सयमादि व्यवहार कार्य किस लिये करें ? सब छोड देंगे।

उसको कहते हैं—कुछ व्रतशील सयमादिका नाम व्यवहार नही है। इनको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है, उसे छोड दे। और ऐसा श्रद्धानकरे कि इनको बाह्य सहकारी जानकर उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है। सो यह तो परद्रव्याश्रित है। सच्चा मोक्षमार्ग वीतराग भाव है सो स्वद्रव्याश्रित है। इस प्रकार व्यवहारको असत्यार्थ–हेय जानना। व्रतादिक छोडनेसे तो व्यवहारका हेयपना नही होता।

तथा हम पूछते हैं—व्रतादिको छोड क्या करेगा ? जो हिंसादि रूप प्रवर्तेगा तो उसमे तो मोक्षमार्गका उपचार भी सभव नही है।

वहाँ प्रवर्तनेसे क्या भला होगा। नरकादिमें जायेगा। इसलिये ऐसा करना निर्विचारपना है। तथा व्रतादि रूप परिणतिको मिटाकर केवल वीतराग उदासीन भावरूप होना बने तो भला ही है। किन्तु यह नीचेकी दशामें हो नही सकता। अत· व्रतादि साधन छोडकर स्वच्छन्द होना योग्य नही है। इस प्रकार श्रद्धानमे निश्चयको और प्रवृत्तिमे व्यवहारको उपादेय मानना भी मिथ्या भाव ही है।

अथवा यह ऐसा मानता है कि इस नयसे आत्मा ऐसा है, इस नयसे ऐसा है। सो आत्मा तो जैसा है वैसा ही है। परन्तु उसमें नयद्वारा प्ररूपण करनेका जो अभिप्राय है उसे नही पहचानता। जैसे आत्मा निश्चयसे तो सिद्ध समान केवल ज्ञानादि सहित, द्रव्यकर्म नोकर्म भावकर्मसे रहित है। और व्यवहार नयसे संसारी मतिज्ञानादि सहित तथा द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म सहित है, ऐसा मानता है। सो एक आत्माके ऐसे दो स्वरूप होते नही हैं। जिस भाव ही का सहितपना उस भावका ही रहितपना एक वस्तुमे कैसे सम्भव है? इसलिये ऐसा मानना भ्रम है। तो किस प्रकार है—जैसे राजा और रंक मनुष्यपनेकी अपेक्षा समान हैं। उसी प्रकार सिद्ध और संसारीको जीवत्वपनेकी अपेक्षा समान कहा है। केवलज्ञानादिकी अपेक्षा समानता मानी जाये सो तो है नही। ससारीके निश्चयसे मतिज्ञानादि ही हैं, सिद्धके केवल ज्ञान हैं। इतना विशेष है कि ससारीके मतिज्ञानादि कर्मके निमित्तसे हैं। इसलिये स्वभाव अपेक्षा ससारीमे केवल ज्ञानकी शक्ति कही जाये तो दोष नही है। जैसे रंक मनुष्यमें राजा होनेकी शक्ति पाई जाती है उसी प्रकार जानना। तथा द्रव्य-कर्म नोकर्म पुद्गलसे उत्पन्न हुए हैं। इसलिये निश्चयसे ससारीसे भी इनका भिन्नपना है। तथा भावकर्म आत्माका भाव है सो निश्चयसे आत्मा ही का है। परन्तु कर्मके निमित्तसे होता है इसलिये व्यवहारसे कर्मका कहा जाता है। किन्तु सिद्धवत् संसा-रीके भी रागादिका न मानना, कर्मका ही मानना भ्रम है। इस प्रकार नयो द्वारा एकही वस्तुको एक भाव अपेक्षा ऐसा भी मानना और ऐसा भी मानना, यह तो मिथ्याबुद्धि है। परन्तु भिन्न भिन्न भावोकी अपेक्षा नयोकी प्ररूपणा है। ऐसा मान कर यथा सम्भव वस्तुको मानना सो सच्चा श्रद्धान है।

तथा इस जीवके व्रतशील सयमादिका अंगीकार पाया जाता है। सो व्यवहारसे 'ये भी मोक्षके कारण हैं'। ऐसा मान उनको उपादेय मानता है। सो जैसे केवल

व्यवहाराबलम्बी जीवके पहले अयथार्थपना कहा था, वैसे ही इसके भी अयथार्थपना जानना तथा यह ऐसा भी मानता है कि यथा योग्य व्रतादि क्रिया तो करने योग्य है परन्तु इसमे ममत्व नही करना सो जिसका आप कर्ता हो उससे ममत्व कैसे न करे। और आप कर्ता नही है तो मुझको करने योग्य है ऐसा भाव कैसे किया। और यदि कर्ता है तो वह अपना कर्म हुआ तब कर्ता कर्म सम्बन्ध स्वयं ही हुआ। सो ऐसी मान्यता तो भ्रम है।

तो कैसे है—बाह्य व्रतादि तो शरीरादि परद्रव्यके आश्रित हैं। और परद्रव्यका आप कर्ता है नही, इसलिये उसमें कर्तृत्व बुद्धि भी नही करना और ममत्व भी नही करना तथा व्रतादिमे ग्रहण त्यागरूप अपना शुभोपयोग हो वह अपने आश्रित है। उसका आप कर्ता है। इसलिये उसमें कर्तृत्व बुद्धि भी मानना और ममत्व भी करना। परन्तु उस शुभोपयोगको बन्धका ही कारण जानना, मोक्षका कारण नही जानना। क्योकि बन्ध और मोक्ष में तो प्रतिपक्षीपना है। इसलिये एक ही भाव पुण्य बन्धका भी कारण हो और मोक्षका भी कारण हो, ऐसा मानना भ्रम है। इसलिये व्रत अव्रत दोनो विकल्प रहित जहाँ परद्रव्यके ग्रहण त्यागका कुछ भी प्रयोजन नही है ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग ही मोक्षमार्ग है।

नीचेकी दशामे किन्ही जीवोके शुभोपयोग और शुद्धोपयोगका युक्तपना पाया जाता है। इसलिये उपचारसे व्रतादिक शुभोपयोगको मोक्षमार्ग कहा है। परन्तु वस्तुका विचार करने पर शुभोपयोग मोक्षका घातक ही है। क्योकि जो बन्धका कारण है वही मोक्षका घातक है। ऐसा श्रद्धान करना। तथा शुद्धोपयोग ही को उपादेय मान उसीका उपाय करना। शुभोपयोग और अशुभोपयोगको हेय जान उनके त्यागका उपाय करना। जहाँ शुद्धोपयोग न हो सके वहाँ अशुभोपयोगको छोड़ शुभमें ही प्रवर्तन करना। क्योकि शुभोपयोगसे अशुभोपयोगमें अशुद्धताकी अधिकता है। तथा शुद्धोपयोग हो तब तो परद्रव्यका साक्षीभूत ही रहता है। उसमे तो परद्रव्यका कोई प्रयोजन ही नही है। शुभोपयोगमें बाह्य व्रतादिकी प्रवृत्ति होती है और अशुभोपयोगमे बाह्य अव्रतादिकी प्रवृत्ति होती है। क्योकि अशुभोपयोग और परद्रव्यकी प्रवृत्तिके निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध पाया जाता है। तथा पहले अशुभोपयोग छूट शुभोपयोग होता है, पीछे शुभोपयोग छूट शुद्धोपयोग होता है ऐसी क्रम

परिपाटी है। कोई ऐसा मानते हैं कि शुभोपयोग शुद्धोपयोगका कारण है सो जैसे अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग होता है वैसे ही शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग होता है। ऐसा ही कार्य कारणपना हो तो शुभोपयोगका कारण अशुभोपयोग ठहरे। अथवा द्रव्यलिंगीके शुभोपयोग तो उत्कृष्ट होता है और शुद्धोपयोग होता ही नही है। अत परमार्थसे इनमें कारण कार्यपना नही है। जैसे रोगीको बहुत रोग था पश्चात् अल्प रोग रहा तो वह अल्प रोग निरोग होनेका कारण नही है। इतना है कि अल्प रोग रहने पर निरोग होनेका उपाय करे तो हो जाय। परन्तु यदि अल्प रोग को ही भला जानकर उसको रखनेका उपाय करे तो निरोग कैसे हो? उसी प्रकार कषायीके तीव्र कषायरूप अशुभोपयोग था, पीछे मन्द कषायरूप शुभोपयोग हुआ तो वह शुभोपयोग तो नि कषाय शुद्धोपयोग होनेका कारण है नहा, इतना है कि शुभोपयोग होनेपर शुद्धोपयोगका यत्न करे तो हो जाय। परन्तु यदि शुभोपयोगको ही भला जानकर उसका साधन किया करे तो शुद्धोपयोग कैसे हो? इसलिये मिथ्या दृष्टिका शुभोपयोग तो शुद्धोपयोगका कारण है नही, सम्यग्दृष्टिको शुभोपयोग होनेपर निकट शुद्धोपयोग प्राप्त हो, ऐसी मुख्यतासे कही शुभोपयोगको शुद्धोपयोगका कारण भी कहते हैं, ऐसा जानना।

तथा यह जीव अपनेको निश्चय व्यवहाररूप मोक्ष मार्गका साधक मानता है। वहाँ पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माको शुद्ध माना सो तो सम्यग्दर्शन हुआ, वैसा ही जाना सो सम्यग्ज्ञान हुआ। वैसा ही विचारमें प्रवर्तन किया सो सम्यक् चारित्र हुआ। इस प्रकार तो अपनेको निश्चय रत्नत्रय हुआ मानता है। परन्तु मैं प्रत्यक्ष अशुद्ध, सो शुद्ध कैसे मानता जानता विचारता हूँ इत्यादि विवेक रहित भ्रमसे सन्तुष्ट होता है। तथा अरहन्तादिके सिवा अन्य देवादिकको नही मानता। व जैन शास्त्रानुसार जीवादिके भेद सीख लिये हैं। उन्हीको मानता है औरोको नही मानता। सो तो सम्यग्दर्शन हुआ। तथा जैनशास्त्रोके अभ्याससे बहुत प्रवर्तता है सो सम्यग्ज्ञान हुआ। तथा व्रतादिरूप क्रियाओमे प्रवर्तता है सो सम्यक् चारित्र हुआ। इस प्रकार अपनेको व्यवहार रत्नत्रय हुआ मानता है सो व्यवहार तो उपचारका नाम है। सो उपचार भी तो तब बनता है जब सत्यभूत निश्चय रत्नत्रयके कारणादि हो। जिस प्रकार निश्चय रत्नत्रय सध जाये उसी प्रकार इन्हें साधे तो व्यवहारपना

भी सम्भव हो। परन्तु इसे तो सत्यभूत रत्नत्रयकी पहिचान ही हुई नहीं, तो यह इस प्रकार कैसे साध सकेगा। आज्ञानुसारी हुआ देखा देखी साधन करता है। इसलिये उसके निश्चय व्यवहार मोक्ष मार्ग नहीं हुआ। आगे निश्चय व्यवहार मोक्ष मार्गका निरूपण करेंगे। उसका साधन होनेपर ही मोक्ष मार्ग होगा।

इस प्रकार यह जीव निश्चयाभासको मानता जानता है। परन्तु व्यवहार साधन-को भी भला जानता है। इसलिये स्वच्छन्द होकर अशुभरूप नही प्रवर्तता है। व्रतादिक शुभोपयोगरूप प्रवर्तता है। इसलिये अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त पदको प्राप्त करता है। यदि निश्चयाभासकी प्रबलतासे अशुभरूप प्रवृत्ति हो जाये तो कुगतिमें भी गमन हो, क्योंकि परिणामोंके अनुसार फल प्राप्त होता है। परन्तु संसारका ही भोक्ता रहता है। सच्चा मोक्षमार्ग पाए बिना सिद्ध पदको नहा पाता। इस प्रकार निश्चयाभास व्यवहाराभास दोनोंके अवलम्बी मिथ्या दृष्टियोका कथन किया।

## सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि

अब सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टिका निरूपण करते हैं—

किसीके मन्द कषायादिकका कारण पाकर ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षयोपशम हुआ, जिससे तत्त्व विचार करनेकी शक्ति हुई और मोह मन्द हुआ, जिससे तत्त्व विचारमे उद्यम हुआ। तथा बाह्य निमित्त देव गुरु शास्त्रादिका हुआ। उनसे सच्चे उपदेशका लाभ हुआ। वहाँ अपने प्रयोजन भूत मोक्ष मार्गका, देव गुरु धर्मादिका, जीवादि तत्त्वोका, आपा परका, अपनेको हितकारी अहितकारी भावोंका, इत्यादिके उपदेशसे सावधान होकर ऐसा विचार किया—अहो, मुझे तो इन बातोकी खबर ही नहो, मैं भ्रमसे भूल पर्यायमे ही तन्मय हुआ। सो इस पर्यायकी तो थोडे ही काल-की स्थिति है। यहाँ मुझे सब निमित्त मिले हैं। इसलिये मुझे इन बातोंको ठीक करना चाहिये। क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है। ऐसा विचार जो उपदेश सुना उसके निर्धार करनेका उद्यम किया। वहाँ उद्देश, लक्षण निर्देश और परीक्षा द्वारा उनका निर्धारण होता है अत पहले तो उनके नाम सीखे, फिर उनके लक्षण जाने, फिर ऐसा सम्भव है कि नहो, ऐसा विचार लिये परीक्षा करने लगे।

वहाँ नाम सीख लेना और लक्षण जान लेना ये दोनों तो उपदेशके अनुसार होते है। किन्तु परीक्षा करनेमें अपना विवेक चाहिये। सो विवेक पूर्वक एकान्तमे

अपने उपयोगमें विचार करे कि जैसा उपदेश दिया वैसा ही है या अन्यथा है। तहाँ अनुमानादि प्रमाण द्वारा ठीक करे। अथवा उपदेश तो ऐसे है, ऐसे न मानिये तो ऐसे होय सो इसमें प्रबल युक्ति कौन है और निर्बल युक्ति कौन है? जो प्रबल युक्ति प्रतीत हो उसे सच्चा जाने। यदि उपदेशसे अन्यथा सत्य भासित हो या सन्देह रहे, निर्णय न हो तो विशेष ज्ञानी से पूछे। और वह जो उत्तर दें उसका विचार करे। इस प्रकार जब तक निर्णय न हो तब तक प्रश्नोत्तर करे। अथवा समान बुद्धि के धारकोसे अपना विचार करे और प्रश्नोत्तर द्वारा परस्पर चर्चा करे। तथा प्रश्नोत्तरमे जो निरूपण हुआ हो उस पर विचार करे। इसी प्रकार जब तक अपने अन्तरंगमें जैसा उपदेश दिया था वैसा ही निर्णय होकर भाव भासित न हो तब तक इसी प्रकार उद्यम करना चाहिये।

ऐसा उद्यम करने पर जैसा जिनदेवका उपदेश है वैसा ही सत्य है मुझे भी इसी प्रकार भासित होता है, ऐसा निर्णय होता है, क्योंकि जिनदेव अन्यथा भासी नहीं हैं।

प्रश्न—यदि जिनदेव अन्यथा भासी नही हैं तो जैसा उनका उपदेश है वैसा ही श्रद्धान करलें, परीक्षा किस लिये करें?

समाधान—परीक्षा किये बिना यह तो मानना हो सकता है कि जिनदेवने जैसा कहा है सो सत्य है। परन्तु उसका भाव अपनेको भासित नही होता। तथा भाव भासित हुए बिना निर्मल श्रद्धान नही होता। भाव भासित होनेपर ही जो प्रतीति होती है वही सच्ची प्रतीति है।

प्रश्न—उपदेश तो अनेक प्रकार है किस किसकी परीक्षा करे?

समाधान—उपदेशमे कोई हेय कोई उपादेय तत्त्वोका निरूपण होता है सो उपादेय हेय तत्त्वोकी परीक्षा कर लेनी चाहिये। क्योकि इनमें अन्यथापना होनेसे अपना बुरा होता है।

प्रश्न—स्वय परीक्षा न करके जिन वचन ही से उपादेयको उपादेय और हेय को हेय माने तो कैसे बुरा होगा?

समाधान—अर्थका भाव भासित हुए बिना वचनका अभिप्राय नही पहचाना जाता। यह तो मान ले कि मैं जिन वचनानुसार मानता हू परन्तु भाव भासित

हुए बिना अन्यथापना हो जाता है इसलिये भाव भासित होनेके लिये हेय उपादेय तत्त्वोंकी परीक्षा अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न—यदि परीक्षा अन्यथा हो जाय तो क्या करे ?

समाधान—जिन वचन और अपनी परीक्षामें समानता हो तब तो जाने कि सत्य परीक्षा हुई है। जब तक ऐसा न हो तब तक अपनी परीक्षामें विचार किया करे। मोक्ष मार्गमें जिनके जाननेसे प्रवृत्ति होती है उन्हें अवश्य जानना। इस भवमे अभ्यास करके परलोकमे तिर्यञ्चादि गतिमें भी जाये तो वहाँ संस्कारके बलसे देवगुरु शास्त्रके निमित्त बिना भी सम्यक्त्व हो जाये, क्योंकि ऐसे अभ्यासके बलसे मिथ्यात्व कर्मका अनुभाग हीन होता है जहाँ उसका उदय न हो वही सम्यक्त्व हो जाता है। मूल कारण यही है। देवादि तो बाह्य निमित्त हैं।

इस प्रकार तत्त्व विचार वाला जीव सम्यक्त्वका अधिकारी होता है। परन्तु उसके सम्यक्त्व हो ही, ऐसा नियम नही है, क्योंकि शास्त्रमे सम्यक्त्व होनेसे पूर्व पाँच लब्धियोका होना कहा है।

## पाँच लब्धियोका स्वरूप

क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करण ये पाँच लब्धियाँ हैं। जिसके होनेपर तत्त्व विचार हो सके ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षयोपशम हो। उदय कालको प्राप्त सर्वघाती स्पर्द्धकोके निषेकोंके उदयका अभाव सो क्षय, और आगामी कालमे उदय आने योग्य उन्हीका सत्तारूप रहना सो उपशम, ऐसी देशघाती स्पर्द्धकोके उदय सहित कर्मोंकी अवस्थाका नाम क्षयोपशम है। उसकी प्राप्ति क्षयोपशम लब्धि है। तथा मोहका मन्द उदय आनेसे मन्द कषाय रूप भाव हो कि तत्त्व विचार हो सके, सो विशुद्धि लब्धि है। जिनदेवके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वका धारण हो, विचार हो सो देशना लब्धि है। जहाँ नरकादिमे उपदेशका निमित्त नही होता वहाँ वह पूर्व संस्कारसे होती है। कर्मोंकी पूर्व सत्ता घटकर अन्त: कोटी कोटी सागर प्रमाण रह जाये और नवीन बन्ध अन्त कोटी कोटी सागरके संख्यातवें भाग मात्र हो, वह भी उस लब्धि कालसे लगाकर क्रमसे घटता जाये तथा कितनी ही पाप प्रकृतियोंका बन्ध क्रमसे मिटता जाये इत्यादि योग्य अवस्थाका होना प्रायोग्य लब्धि है। ये चारों लब्धियाँ भव्य और अभव्यके होती हैं। इन चार

लब्धियोंके होनेपर सम्यक्त्व नहीं होता किन्तु पाँचवी करण लब्धिके होनेपर सम्यक्त्व होता ही है।

इस करण लब्धिके तीन भेद हैं—अध करण, अपूर्व करण, अनिवृत्ति करण। इनका विशेष व्याख्यान तो लब्धिसार शास्त्रमें है। यहाँ संक्षेपसे कहते हैं—त्रिकालवर्ती सर्व करण लब्धि वाले जीवोंके परिणामोंकी अपेक्षा ये तीन नाम हैं। करण नाम परिणामका है। जहाँ आगे पीछे वाले जीवोंके परिणाम समान हो सो अध करण है। जैसे किसी जीवके परिणाम उस करणके पहले समयमें अल्प विशुद्धता सहित हुए। पीछे समय समय अनन्तगुनी विशुद्धतासे बढते गये। उसके दूसरे तीसरे आदि समयोमें जैसे परिणाम हो, वैसे किन्हो अन्य जीवोके प्रथम समयमे ही हो और उनके समय समय अनन्तगुनी विशुद्धतासे बढते हो। इस प्रकार अध प्रवृत्तकरण जानना।

तथा जिसमें आगे पीछे समय वाले जीवोंके परिणाम समान न हो अपूर्व अपूर्व ही हों वह अपूर्व करण है। जैसे जिन जीवोके करणका पहला समय ही होता है उन अनेक जीवोके परिणाम परस्पर समान भी होते हैं और अधिक हीन विशुद्धता लिये भी होते है। ऐसे ही जिनको करण प्रारम्भ किये द्वितीयादि समय हुआ हो उनके उस समय वालोंके तो परिणाम परस्पर समान या असमान होते है। परन्तु ऊपरके समय वालोके परिणाम उस समय वालोके समान सर्वथा नही होते, अपूर्व ही होते हैं। ऐसे अपूर्व करण जानना।

तथा जिसमे समान समयवर्ती जीवोके परिणाम समान ही होते हैं, निवृत्ति अर्थात् परस्पर भेदसे रहित होते है। उसे अनिवृत्ति करण जानना। इस प्रकार ये तीन करण जानना।

उनमेंसे पहले अध करण होता है। उसमे चार आवश्यक होते है—प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धता होती है। नवीन बन्धकी स्थिति एक एक अन्तर्मुहूर्त घटती हुई होती है इसे स्थिति बन्धापसरण कहते हैं। प्रति समय प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनन्त गुणा बढता है और अप्रशस्त प्रकृतियोका अनुभाग बन्ध अनन्तवें भाग होता है। ये चार आवश्यक होते हैं। इसके पश्चात् अपूर्व करण होता है उसका काल अध करणके कालके सख्यातवें भाग है।

उसमें ये आवश्यक और होते हैं—सत्तामूत पूर्व कर्मकी स्थितिको एक एक अन्तर्मुहूर्त घटाता है। इसे स्थितिकाण्डकघात कहते हैं। तथा उससे छोटे एक एक अन्तर्मुहूर्तसे पूर्व कर्मके अनुभागको घटाना है। इसे अनुभागकाण्डकघात कहते हैं। तथा गुण श्रेणीके कालमें क्रमसे असख्यात गुने प्रमाण सहित कर्मोंको निर्जरा योग्य करता है। यह गुण श्रेणी निर्जरा है। यहाँ गुण सक्रमण नही होता। परन्तु अन्यत्र अपूर्व करणमे होता है। इसके पश्चात् अनिवृत्ति करण होता है। उसका काल अपूर्व करणके भी संख्यातवें भाग है। उसमेंसे कितना ही काल जानेके बाद अन्तर करण करता है। अर्थात अनिवृत्ति करणके कालके पश्चात् उदय आने योग्य मिथ्यात्व कर्मके मुहूर्त मात्र निषेकोका अभाव करता है, उन परमाणुओको अन्य स्थिति रूप परिणमाता है। अन्तर करणके पश्चात उपशम करण करता है। इत्यादि क्रिया द्वारा अनिवृत्ति करणके अन्त समयके अनन्तर मिथ्यात्वका उदय न होनेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। अनादि मिथ्यादृष्टिके सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीयकी सत्ता नहीं है। इसलिये वह एक मिथ्यात्व कर्मका ही उपशम करके उपशम सम्यग्दृष्टि होता है।

जो सम्यक्त्वसे भ्रष्ट होता है उसे सादि मिथ्यादृष्टि कहते है। उसके भी सम्यक्त्वकी प्राप्तिमे पाँच लब्धियाँ होती है। इतना विशेष है कि यहाँ किसी जीवके दर्शन मोहनीयकी तीन प्रकृतियोकी सत्ता होती है। सो उनको उपशमा कर प्रथमोपशम सम्यक्त्वी होता है। अथवा किसीके सम्यक्त्व मोहनीयका उदय आता है वह क्षयोपशम सम्यक्त्वी होता है। किसीके मिश्र मोहनीयका उदय आता है तो वह मिश्र गुणस्थानको प्राप्त होता है। इस प्रकार सादि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व छूटनेपर दशा होती है। क्षायिक सम्यक्त्व वेदक सम्यग्दृष्टिके ही होता है। इससे यहाँ उसका कथन नही किया है। इस प्रकार सादि मिथ्यादृष्टिका जघन्य तो मध्यम अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट किञ्चित् न्यून अर्द्ध पुद्गल परावर्तन मात्र काल जानना।

तथा कोई जीव सम्यक्त्वसे भ्रष्ट होकर सासादन होता है और वहाँ जघन्य एक समय उत्कृष्ट छह आवली काल तक रहता है। वहाँ अनन्तानुबन्धीका उदय होता है, मिथ्यात्वका नही होता। कोई जीव सम्यक्त्वसे भ्रष्ट होकर मिश्र गुणस्थानको प्राप्त होता है। वहाँ मिश्र मोहनीयका उदय होता है। इसका काल मध्यम अन्तर्मुहूर्त है।

इस प्रकार सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टियोंका कथन किया। उसका प्रयोजन यह जानना कि अपनेमें ऐसा दोष हो तो उसे दूर करके सम्यक् श्रद्धानी होना। सब प्रकारके मिथ्यात्व भाव छोडकर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है, क्योंकि संसारका मूल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वके समान अन्य पाप नही है। एक मिथ्यात्व और उसके साथ अनन्तानुबन्धीका अभाव होनेपर इकतालीस कर्म प्रकृतियोंका तो बन्ध ही मिट जाता है। स्थिति अन्त कोड़ा कोडी सागरकी रह जाती है। अनुभाग भी थोडा ही रह जाता है। तथा शीघ्र ही मोक्षपद प्राप्त होता है। किन्तु मिथ्यात्वका सद्भाव रहने पर अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्ष नही होता। इसलिये जिस तिस उपायसे सर्व प्रकार मिथ्यात्वका विनाश करना योग्य है।

## सप्तम अधिकार

# मोक्षमार्गका स्वरूप

जिनके निमित्तसे यह आत्मा अशुद्ध दशाको प्राप्त होकर दुःख भोगता है उन मोह आदि कर्मोंका सर्वथा नाश होनेपर आत्माकी सर्वथा शुद्ध अवस्थाका नाम मोक्ष है। उसका जो उपाय है उसे मोक्षमार्ग कहते हैं।

तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है—

**सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।**

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका एकीभाव मोक्षमार्ग है। इस सूत्रकी टीका सर्वार्थ सिद्धिमे कहा है कि यहाँ जो 'मोक्षमार्ग' ऐसा एक वचन कहा है उसका अर्थ यह है कि तीनो मिलनेपर एक मोक्षमार्ग है, ये तीनों अलग-अलग मोक्षमार्ग नही हैं। इनमेंसे एक भी न हो तो मोक्षमार्ग नही है।

प्रश्न—असयत सम्यग्दृष्टीके चारित्र नही हैं। तो उसको मोक्षमार्ग हुआ या नही हुआ है?

समाधान—उसके मोक्षमार्ग होगा यह नियम है। इसलिये उपचारसे उसके मोक्षमार्ग हुआ भी कहते हैं। किन्तु परमार्थसे सम्यक् चारित्र होनेपर ही मोक्षमार्ग होता है। असंयत सम्यग्दृष्टीको वीतराग भावरूप मोक्षमार्गका श्रद्धान हुआ, इसलिये उसे उपचारसे मोक्षमार्गी कहते हैं। परमार्थसे वीतराग भावरूपसे परिणमित होनेपर ही मोक्षमार्ग होगा। तथा प्रवचनसारमें भी तीनोकी एकाग्रता होनेपर ही मोक्षमार्ग कहा है। इसलिये यह जानना कि तत्व श्रद्धान और ज्ञानके बिना तो रागादि घटानेसे मोक्षमार्ग नही है और रागादि घटाये बिना तत्व श्रद्धान ज्ञानसे भी मोक्षमार्ग नही है। तीनोके मिलनेपर साक्षात् मोक्षमार्ग होता है।

### सम्यग्दर्शनका सच्चा लक्षण

विपरीत अभिनिवेशसे रहित जीवादि तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनका लक्षण है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्त्वार्थ हैं। इनका जो श्रद्धान-ऐसा ही है अन्यथा नही ऐसा प्रतीति भाव तत्त्वार्थ श्रद्धान है और वह

विपरीत अभिनिवेश जो अन्यथा अभिप्राय उससे रहित सम्यग्दर्शन है। यहाँ विपरीत अभिनिवेशके निराकरणके लिये 'सम्यक्' पद कहा है क्योंकि सम्यक् शब्द प्रशंसा वाचक है। सो श्रद्धानमे विपरीत अभिनिवेशका अभाव होनेपर ही प्रशंसा सम्भव है।

प्रश्न—तत्त्व और अर्थ इन दोनोको क्यों कहा ?

समाधान—'तत्' शब्द 'यत्' शब्दकी अपेक्षा रखता है। अत जिसका प्रकरण हो उसे तत कहा जाता है। और उसका जो भाव अर्थात् स्वरूप हो उसे तत्त्व जानना क्योंकि 'तस्य भावस्तत्त्व' ऐसा तत्त्वशब्दका समास होता है। तथा जो जाननेमे आवे ऐसा द्रव्य व गुण पर्याय अर्थ है। तथा 'तत्वेन अर्थस्तत्त्वार्थ' तत्त्व अर्थात अपने स्वरूपसे सहित अर्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। यहाँ यदि केवल तत्त्व श्रद्धान ही कहते तो जिसका यह भाव (तत्त्व) है उसके श्रद्धानके बिना केवल भावका ही श्रद्धान कार्यकारी नही है। तथा यदि केवल अर्थ श्रद्धान ही कहते तो भावके श्रद्धानके बिना अर्थका श्रद्धान भी कार्यकारी नही है। जैसे किसीको ज्ञान दर्शन आदि का व वर्णादिका तो श्रद्धान व जानपना हो, परन्तु ज्ञान दर्शन आत्माका स्वभाव है, मै आत्मा हूँ तथा वर्णादि पुद्गलका स्वभाव है, पुद्गल मुझसे भिन्न है, अलग है, ऐसा पदार्थका श्रद्धान न हो तो भावका श्रद्धान कार्यकारी नही है। तथा वैसे 'मै आत्मा हूँ' ऐसा श्रद्धान है परन्तु आत्माका जैसा स्वरूप है वैसा श्रद्धान नही है तो भावके श्रद्धानके बिना पदार्थका भी श्रद्धान कार्यकारी नही है। इसलिये तत्त्व सहित अर्थका श्रद्धान ही कार्यकारी है। अथवा जीवादिकी तत्त्व सज्ञा भी है और अर्थ सज्ञा भी है इसलिये 'तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थ' जो तत्त्व सो ही अर्थ, उनका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसलिये तत्त्व और अर्थ दो पद कहे है।

## तत्त्वार्थ सात ही क्यो ?

यहाँ मोक्षका प्रयोजन है। सो जिन सामान्य या विशेष भावोंका श्रद्धान करने से मोक्ष हो, और जिनका श्रद्धान किये बिना मोक्ष न हो, उन्हीका यहाँ कथन किया है। सो बहुत द्रव्योकी एक जाति अपेक्षा जीव अजीव ये दो सामान्यरूप तत्त्व कहे। इनको जाननेसे जन जीवनको अपना और परका श्रद्धान होता है तब परसे भिन्न अपनेको जानकर अपने हितके लिये मोक्षका उपाय करता है और अपनेसे भिन्न परको जानकर परद्रव्यसे उदासीन हो रागादिका त्याग मोक्षमे प्रवृत्त होता है। इस-

लिये इन दोनों जातियोंके जाननेपर ही और श्रद्धान करने पर ही मोक्ष होता है। इनका श्रद्धान न करनेपर मोक्ष नहीं होता। अत ये दो सामान्य तत्त्व अवश्य श्रद्धान करने योग्य हैं। शेष आस्रव आदि पाँच जीव और पुद्गलकी पर्याय हैं। इनको जाननेसे मोक्षका उपाय करनेका श्रद्धान होता है।

मोक्षका उपाय संवर और निर्जरा है। इसलिए सवर निर्जराका श्रद्धान करना आवश्यक है। तथा संवर और निर्जरा तो अभाव करने रूप है। इसलिए जिनका अभाव करना है उनको जानना चाहिए। जैसे क्रोधका अभाव होनेपर क्षमा होती है। सो क्रोधको जाने तो उसका अभाव करके क्षमारूप प्रवृत्ति करे। उसी प्रकार आस्रवका अभाव होनेपर सवर होता है और बन्धका एकदेश अभाव होनेपर निर्जरा होती है। सो आस्रव और बन्धको जाने तो उनका अभाव करके सवर निर्जरा रूप प्रवृत्ति करे। इसलिए आस्रव बन्धका श्रद्धान करना। इस प्रकार इन पाचोंका श्रद्धान करनेपर ही मोक्षमार्ग होता है। तथा कही पुण्य पाप सहित नौ पदार्थ कहे हैं। सो पुण्य पाप आस्रव आदिके ही विशेष हैं। इसलिये सात तत्त्वोमें गर्भित हैं। अथवा पुण्य पापका श्रद्धान होनेपर पुण्यको मोक्षमार्ग न माने या स्वच्छन्द होकर पापरूप प्रवृत्ति न करे, इसलिये मोक्षमार्गमें इनका श्रद्धान भी उपकारी जानकर इनको मिलाकर समयसारादिमें नौ तत्त्व कहे हैं।

प्रश्न—विपरीत, अभिनिवेश रहित श्रद्धान करना कहा सो इसका क्या अभिप्राय है ?

समाधान—अभिनिवेशका अर्थ अभिप्राय है। सो जैसा तत्त्वार्थ-श्रद्धानका अभिप्राय है वैसा न होकर अन्यथा अभिप्राय हो उसका नाम विपरीत अभिनिवेश है। तत्त्वार्थ श्रद्धान करनेका अभिप्राय केवल उनका निश्चय करना मात्र ही नहीं है। किन्तु जीव अजीव को जानकर अपने को तथा परको वैसा ही माने तथा आस्रव को जानकर उसे हेय माने, बन्ध को जानकर उसे अहित माने, संवर को जानकर उसे उपादेय माने, निर्जरा को जानकर उसे हित का कारण माने तथा मोक्ष को जानकर उसे परमहित माने। ऐसा तत्त्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय है। उससे उल्टे का नाम विपरीत अभिनिवेश है। सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान होनेपर उसका अभाव होता है। इसीसे विपरीत अभिनिवेश रहित तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है।

अथवा किसीके आभासमात्र तत्त्वार्थश्रद्धान होता है किन्तु अभिप्रायमें विपरीत-पना रहता है। जैसे, द्रव्यलिङ्गी मुनि तत्त्वों की प्रतीति तो करता है परन्तु शरीराश्रित क्रियाओंमें अहकार और पुण्यास्रवमें उपादेयपना इत्यादि विपरीत अभिप्रायसे मिथ्यादृष्टि ही रहता है। इसलिये विपरीत अभिनिवेश रहित तत्त्वार्थश्रद्धान ही सम्यग्दर्शन का लक्षण है। पुरुषार्थ सिद्धयुपायमे कहा है—

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपंतत् ॥२२॥

अर्थ—विपरीत अभिनिवेश रहित जीव अजीव आदि तत्त्वार्थों का श्रद्धान सदा करना योग्य है। यह आत्मा का स्वरूप है। दर्शनमोह की उपाधि दूर होनेपर प्रकट होता है इसलिये आत्मा का स्वभाव है। चतुर्थ आदि गुणस्थानमें प्रकट होता है पश्चात् सिद्ध अवस्थामे भी सदाकाल रहता है।

प्रश्न—जिस कालमे सम्यग्दृष्टि विषयकषायोके कार्यमे लगता है उस कालमें सात तत्त्वोका विचार ही नही है वहा श्रद्धान कैसे सम्भव है।

समाधान—विचार तो उपयोगके अधीन है। जहाँ उपयोग लगता है उसीका विचार होता है। किन्तु श्रद्धान प्रतीतिरूप है। इसलिये तत्त्वविचार नही होनेपर भी उनकी प्रतीति बनी रहती है, नष्ट नही होती। इसलिये उसके सम्यक्त्वका सद्भाव है।

प्रश्न—छद्मस्थके तो प्रतीति अप्रतीति कहना सम्भव है। केवली सिद्ध भगवान तो सर्वज्ञ होते हैं उनके सात तत्त्वोको प्रतीति सम्भव नही है।

समाधान—जसे छद्मस्थके श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति पाई जाती है उसी प्रकार केवली और सिद्ध भगवानके केवलज्ञानके अनुसार प्रतीति पाई जाती है। यहाँ प्रतीतिका परमावगाढपना होता है। इसीसे परमावगाढ़ सम्यक्त्व होता है। यद्यपि केवली और सिद्ध भगवान अन्य पदार्थोंको भी प्रतीति सहित जानते है तथापि वे पदार्थ प्रयोजनभूत नही हैं इसलिये सम्यक्त्व गुणमें सात तत्त्वोंका ही श्रद्धान ग्रहण किया है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन तो मोक्षका मार्ग है। मोक्षमें उसका सद्भाव कैसे है ?

उत्तर—कुछ कारण ऐसे भी होते हैं जो कार्य होनेपर नष्ट नहीं होते। अतः मुक्ति होनेपर भी सम्यक्त्व गुण नष्ट नहीं होता।

## सम्यक्त्वके विभिन्न लक्षणोंका समन्वय

प्रश्न—यहाँ सातों तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है किन्तु समयसार कलशमें कहा है—इस आत्माका समस्त परद्रव्योंसे भिन्न अवलोकन ही नियमसे सम्यग्दर्शन है। इसलिये नौ तत्त्वोकी सन्ततिको छोडकर एक आत्मा ही हमारा होवे। तथा कही एक आत्माके निश्चयको ही सम्यग्दर्शन कहा है। जैसे पुरुषार्थ सिद्धयुपायमे कहा है—'दर्शनमात्मविनिश्चिति' यदि सातो तत्त्वोके श्रद्धानका नियम होता तो ऐसा क्यों लिखते ?

समाधान—परसे भिन्न आत्माका श्रद्धान आस्रव आदिके श्रद्धानसे रहित होता है या सहित होता है। यदि रहित होता है तो मोक्षके श्रद्धान बिना किस लिये उसका उपाय करता है। सवर निर्जराके श्रद्धान बिना रागादि रहित होकर स्वरूपमे उपयोग लगानेका उद्यम क्यो करता है ? अत आस्रव आदिके श्रद्धान बिना आपा परका श्रद्धान सभव नही है। तथा परका पररूप श्रद्धान हुए बिना आत्माका श्रद्धान नही होता। इसलिये अजीवका श्रद्धान होनेपर ही जीवका श्रद्धान होता है। इसलिये यहाँ भी सातो तत्त्वोके श्रद्धानका नियम जानना।

प्रश्न—किन्ही शास्त्रोमे अरहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और हिंसा रहित धर्मके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है सो किस प्रकार है ?

समाधान—अरहन्त देवादिके श्रद्धानसे कुदेवादिका श्रद्धान दूर होनेसे गृहीत मिथ्यात्वका अभाव होता है। इस अपेक्षा इनको सम्यक्त्व कहा है। यह सर्वथा सम्यक्त्वका लक्षण नही है क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहार धर्मके धारक मिथ्यादृष्टियोंके भी ऐसा श्रद्धान होता है। तथा अरहन्त देवादिका श्रद्धान होनेपर सम्यक्त्व हो या न हो परन्तु अरहन्त आदिके श्रद्धान बिना सम्यक्त्व नही होता। इसी से अरहन्त आदिके श्रद्धानको व्यवहार सम्यक्त्व कहा है। तथा जिनके तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है उनको सच्चे अरहन्त आदिके स्वरूपका श्रद्धान होता ही है।

प्रश्न—नारकी आदि जीवोंके देव कुदेवका व्यवहार नहीं है और उनके सम्यक्त्व पाया जाता है। इसलिये सम्यक्त्व होनेपर अरहन्त आदिका श्रद्धान होता ही है यह नियम संभव नही है।

समाधान—सात तत्वोंके श्रद्धानमें अरहन्त आदिका श्रद्धान गर्भित है। क्योंकि तत्व श्रद्धानमें मोक्ष तत्व सर्वोत्कृष्ट है और वह अरहन्त सिद्धका लक्षण है। तथा मोक्षके कारण संवर निर्जरा है। और सवर निर्जराके धारक मुख्यतः मुनि होते है। इस प्रकार तत्व श्रद्धानमें गर्भित अरहन्त आदिका श्रद्धान होता है। इसलिये सम्यक्त्वमे देवादिके श्रद्धानका नियम है।

प्रश्न—कितने ही जीव अरहन्त आदिका श्रद्धान रखते हैं फिर भी उनके तत्त्व श्रद्धानरूप सम्यक्त्व नही होता। इसलिये जिनके अरहन्त आदिका श्रद्धान हो उनके तत्त्व श्रद्धान होता ही है ऐसा नियम सभव नही है।

समाधान—जो तत्त्व श्रद्धानके बिना अरहन्त आदिके छियालीस आदि गुणो-को जानता है वह यथार्थरूपसे नही जानता इसलिये सच्चा श्रद्धान भी नही होता क्योंकि जीव अजीवकी पहिचानके बिना अरहन्तादिके आत्माश्रित गुणोको और शरीराश्रित गुणोको भिन्न भिन्न नही जानता। यदि जाने तो अपने आत्माको पर-द्रव्यसे भिन्न कैसे न माने। प्रवचन सारमे कहा है—

जो जाणदि अरहत दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाण मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

इसका अर्थ इस प्रकार है—जो अरहन्तको द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्वसे जानता है वह आत्माको जानता है। उसका मोह विलयको प्राप्त होता है। इसलिये जिनके जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान नही है उनके अरहन्तादिका भी सच्चा श्रद्धान नही है। तथा मोक्षादि तत्त्वके श्रद्धान बिना अरहन्तादिका माहात्म्य यथार्थ नही जानता। लौकिक अतिशयोंसे अरहन्तकी, तपश्चरण आदिसे गुरुकी, और पर जीवोंकी अहिंसा आदिसे धर्मकी महिमा जानना तो पराश्रित भाव है। आत्माश्रित भावोंसे अरहन्ता-दिका स्वरूप तत्व श्रद्धान होनेपर ही जाना जाता है। इसलिये जिसके सच्चा अरहन्तादिका श्रद्धान हो उसके तत्व श्रद्धान होता ही है।

प्रश्न—सच्चा तत्त्वार्थ श्रद्धान व आपापरका श्रद्धान व आत्म श्रद्धान व देव गुरु धर्मका श्रद्धान सम्यक्त्वका लक्षण कहा। तथा इन सब लक्षणोकी एकता भी बतलाई। परन्तु अन्य अन्य प्रकारसे लक्षण क्यो कहे ?

उत्तर—ये चार लक्षण कहे। उनमें सच्ची दृष्टिसे एक लक्षण ग्रहण करने पर चारों लक्षणोंका ग्रहण हो जाता है। तथापि मुख्य प्रयोजन भिन्न भिन्न विचारकर अलग अलग लक्षण कहे हैं।

जहाँ तत्वार्थ श्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ यह प्रयोजन है कि इन तत्वोंको पहचाने तो वस्तुके यथार्थ स्वरूपका व अपने हित अहितका श्रद्धान करके मोक्ष-मार्गमें प्रवृत्त हो। जहाँ आपा परका भिन्न श्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ तत्वार्थ श्रद्धानका प्रयोजन जिससे सिद्ध हो उस श्रद्धानको मुख्य लक्षण कहा है। जीव अजीवके श्रद्धानका प्रयोजन आपा परका भिन्न श्रद्धान करना है। तथा आस्र-वादिके श्रद्धानका प्रयोजन रागादिको छोडना है। सो आपा परका भिन्न श्रद्धान होनेपर परद्रव्यमें रागादि न करनेका श्रद्धान होता है इस प्रकार तत्वार्थ श्रद्धान का प्रयोजन आपा परके भिन्न श्रद्धानसे सिद्ध होता जानकर इस लक्षणको कहा है। तथा जहाँ आत्म श्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ आपको आप जाना। आपको आप जाननेपर परका भी जानना बेकार है। इस प्रकार मूल प्रयोजनकी प्रधानतासे आत्म श्रद्धानको लक्षण कहा है जहाँ देवगुरु धर्मका श्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ बाह्य साधनकी प्रधानताकी है, क्योंकि अरहन्त देवादिका श्रद्धान सच्चे तत्वार्थ श्रद्धान का कारण है। अत कुदेवादिका श्रद्धान छुडाकर सुदेवादिका श्रद्धान करानेके लिये देवगुरु धर्मके श्रद्धानको सम्यक्त्वका लक्षण कहा है।

प्रश्न—इन चारो लक्षणोमेंसे किस लक्षणको स्वीकार करना चाहिये।

समाधान—मिथ्यात्व कर्मका उपशम आदि होनेपर विपरीत अभिनिवेशका अभाव होता है तब चारो लक्षण एक साथ पाये जाते हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टिके लक्षण में चारों ही लक्षण स्वीकार किये गये हैं।

जो जीव अपना भला करना चाहे उसे जब तक सच्चे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न हो तब तक पहले तो देवादिकी श्रद्धान करना चाहिये। फिर तत्वोंका विचार करना चाहिये, फिर आपा परका चिन्तवन करना चाहिये, फिर केवल आत्माका चिन्तन करना चाहिये। इस क्रमसे साधन करनेपर जीव सच्चे मोक्षमार्गको पाकर सिद्ध पदको प्राप्त कर सकता है।

## सम्यग्दर्शनके भेद और उनका स्वरूप

अब सम्यग्दर्शनके भेद बतलाते हैं—

प्रथम। निश्चय और व्यवहार भेदको कहते है विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान-रूप आत्माका परिणाम निश्चय सम्यक्त्व है। तथा विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धानका कारण जो श्रद्धान है वह व्यवहार सम्यक्त्व है। यहाँ कारणमें कार्यका उपचार किया है। उपचारका ही नाम व्यवहार है। अत देव गुरु शास्त्र आदिका श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है। दोनो सम्यक्त्व एक साथ पाये जाते हैं। किन्तु मिथ्या दृष्टि जीवके देव गुरु धर्मादिका श्रद्धान आभास मात्र होता है इसलिये उसके निश्चय सम्यक्त्व तो है ही नही, और व्यवहार सम्यक्त्व भी आभास मात्र है।

प्रश्न—कितने ही शास्त्रोमे देव गुरु धर्मके श्रद्धानको तथा तत्त्व श्रद्धानको तो व्यवहार सम्यक्त्व कहा है और आपा परके श्रद्धानको व केवल आत्माके श्रद्धानको निश्चय सम्यक्त्व कहा है, सो कैसे ?

समाधान—देव गुरु धर्मके श्रद्धानमे प्रवृत्तिकी मुख्यता है। जो प्रवृत्तिमें अर-हन्त आदिको ही देव मानता है औरको नही मानता उसे अरहन्त आदिका श्रद्धानी कहा जाता है। और तत्त्व श्रद्धानमे विचारकी मुख्यता है। जो जीवादि तत्वोका विचार करे उसे तत्व श्रद्धानी कहते हैं। सो ये दोनो किसी जीवके सम्यक्त्वके कारण तो होते हैं परन्तु इनका सद्भाव मिथ्यादृष्टिके भी होता है। इसलिये इनको व्यवहार सम्यक्त्व कहते है। तथा आपा परके श्रद्धानमें व आत्मश्रद्धानमे विपरीत अभिनिवेश रहितपनेकी मुख्यता है। जो आपा परका भेद विज्ञान करे व अपने आत्मा का अनुभव करे उसके मुख्य रूपमे विपरीत अभिनिवेश नही होता। इसलिये भेद-विज्ञानीको व आत्मज्ञानीको सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इस प्रकार मुख्यतासे आपा परका श्रद्धान व आत्म श्रद्धान सम्यग्दृष्टिके ही पाया जाता है। इसलिये इसको निश्चय सम्यक्त्व कहा है।

प्रश्न—कितने ही शास्त्रोमे लिखा है आत्मा ही निश्चय सम्यक्त्व है और सब व्यवहार है, यह कैसे ?

समाधान—विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान आत्माका ही स्वरूप है वहाँ अभेद बुद्धिसे आत्मा और सम्यक्त्वमे भिन्नता नही है इसलिये निश्चयसे

आत्माको ही सम्यक्त्व कहा है । अन्य सब सम्यक्त्वके निमित्त मात्र हैं । भेद कल्पना करने पर आत्मा और सम्यक्त्वमें भेद कहा जाता है । इसलिये अन्य सबको व्यवहार कहा है । इस प्रकार सम्यक्त्वके दो भेद निश्चय और व्यवहार होते हैं ।

तथा दर्शन मोहकी अपेक्षा सम्यक्त्वके तीन भेद हैं—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक । औपशमिक सम्यक्त्वके दो भेद हैं–प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व । मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे करण द्वारा दर्शन मोहका उपशम करके जो सम्यक्त्व होता है उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं । यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व चौथेसे सातवे गुणस्थान तक पाया जाता है ।

तथा उपशम श्रेणीके सन्मुख होनेपर सातवें गुणस्थानमे क्षयोपशम सम्यक्त्व से जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसका नाम द्वितीयोपशम सम्यक्त्व है । यह सम्यक्त्व ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त होता है । ग्यारहवेंसे गिरनेपर किसीके छट्ठे, पाँचवें और चौथे भी गुणस्थानमें रहता है । इसके प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता रहती है । इसलिये यह सम्यक्त्व एक अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रहता है ।

तथा जहाँ दर्शन मोहकी तीन प्रकृतियोमे सम्यक्त्व मोहनीयका उदय हो, शेष दोका न हो वह क्षयोपशम सम्यक्त्व है । उपशम सम्यक्त्वका काल पूरा होनेपर यह सम्यक्त्व होता है । तथा यह चौथेमे सातवें गुणस्थान तक पाया जाता है ।

तथा दर्शन मोहकी तीनो प्रकृतियोंका सर्वथा क्षय होनेपर जो अत्यन्त निर्मल तत्वार्थ श्रद्धान होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व है । तथा सम्यक्त्व होनेपर अनन्तानुबन्धी कषायकी दो अवस्थाएँ होती हैं । या तो अप्रशस्त उपशम होता है या विसयोजन होता है । करण द्वारा उपशम विधानसे जो उपशम होता है वह प्रशस्त उपशम है और उदयके अभावका नाम अप्रशस्त उपशम है । इसका अप्रशस्त उपशम होता है । तथा तीन करणोके द्वारा अनन्तानुबन्धीके परमाणुओको चारित्र मोहनीय की अन्य प्रकृति रूप परिणमित करके उनकी सत्ताका नाश करना विसंयोजन है । सो प्रथमोपशम सम्यक्त्वमे अनन्तानुबन्धोका अप्रशस्त उपशम होता है । तथा पहले अनन्तानुबन्धोका विसयोजन होनेपर ही द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है । ऐसा कोई आचार्य लिखते हैं कोई नही लिखते । तथा क्षयोपशम सम्यक्त्वमे किसी जीव-

के अनन्तानुबन्धीका अप्रशस्त उपशम होता है। किसीके विसयोजन होता है। किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धीका विसयोजन होनेपर ही होता है।

प्रश्न—अनन्तानुबन्धी तो चारित्र मोहकी प्रकृति है उससे सम्यक्त्वका घात कैसे संभव है ?

समाधान—अनन्तानुबन्धीके उदयसे क्रोधादि परिणाम होते हैं, अतत्व श्रद्धान नहीं होता। अत अनन्तानुबन्धी चारित्रको ही घातती है, सम्यक्त्वको नही घातती। परन्तु अनन्तानुबन्धीके उदयसे जैसे क्रोधादि हाते हैं वैसे सम्यक्त्व होने-पर नही होते। ऐसा निमित्त नैमित्तिकपना पाया जाता है। परन्तु सम्यक्त्वके होते हुए अनन्तानुबन्धी कषायका उदय नही होता। इससे उपचारसे अनन्तानुबन्धीको सम्यक्त्वका घातक कहा जाये तो कोई दोष नही है।

प्रश्न—यदि अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्वका घात नही करती तो इसका उदय होनेपर जीव सम्यक्त्वमे भ्रष्ट होकर सासादन गुण स्थानको कैसे प्राप्त करता है ?

समाधान—अनन्तानुबन्धीका उदय होनेसे जीव सम्यक्त्वसे भ्रष्ट होकर सासादन होता है। सम्यक्त्वका अभाव होनेपर मिथ्यात्व होता है किन्तु सासादनमे वह नही होता। यह सामादन उपशम सम्यक्त्वके ही कालमे होता है।

## अष्टम अधिकार

# श्रावकका आचार[1]

श्रावकके तीन प्रकार हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक।

पाक्षिकके देव गुरु धर्म की प्रतीति तो यथार्थ होती है किन्तु आठ मूलगुणोमें और सात व्यसनोंमें अतीचार लगाता है। नैष्ठिकके आठमूलगुणोमे और सात व्यसनोमे अतीचार नही लगता। उसके ग्यारह भेद हैं। और साधक अन्त समयमे सन्यासमरण करता है। ये तीनो श्रावक देव गुरु धर्मकी प्रतीति सहित होते हैं।

पाक्षिकके पांच उदबर फलोका तथा मद्य, मास, मधु इन तीन मकारो का प्रत्यक्ष तो त्याग होता है। किन्तु इनके त्यागरूप आठ मूलगुणोमे अतीचार लगता है। वही कहते हैं—

चमडेके पात्रमे रखे घी, तेल, हीग, जल, रात्रिभोजन, द्विदल, दो घडीके बाद छाने हुए जलका उपयोग, घुना हुआ अन्न इत्यादि मर्यादा रहित वस्तुओमें त्रस जीवोकी अथवा निगोदिया जीवोंकी उत्पत्ति होनेसे उनके भक्षणमे मास त्याग व्रतमे दोष लगता है। प्रत्यक्षरूपसे वह पाच उदम्बर फलोका और तीन मकारोका भक्षण नही करता, सात व्यसनोका भी सेवन नही करता तथा अनेक प्रकारका संयम पालता है। उसे धर्मका पक्ष होनेसे पाक्षिक कहते हैं। यह श्रावक प्रथम प्रतिमा आदि संयम को धारण करनेका उद्यमी होता है इससे इसका दूसरा नाम प्रारब्ध है।

नैष्ठिकके ग्यारह भेद हैं—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त त्याग, रात्रिभोजन अथवा दिनमें मैथुन से बनका त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग। इन ग्यारह भेदोमें असंयम घटता जाता है इससे इसका दूसरा नाम घटमान है।

प्रथम दर्शन प्रतिमा का धारक अतीचार सहित सात व्यसनो को छोडता है तथा अतीचार रहित आठ मूल गुण पालता है।

---

१ यह श्रावक का आचार ज्ञानानन्द श्रावकाचारके आधारसे लिखा गया है।

दूसरी व्रत प्रतिमाका धारक पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों को ग्रहण करता है।

तीसरी सामायिक प्रतिमाका धारक प्रात, मध्याह्न और सन्ध्याको सामायिक करता है।

चौथी प्रोषध प्रतिमाका धारक अष्टमी और चतुर्दशी पर्वोमें आरम्भ त्याग धर्मस्थानमे काल बिताता है।

पाँचवी सचित्त त्याग प्रतिमा का धारी सचित्तका त्याग करता है।

छठी रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमाका धारी रात्रि भोजन छोडता है और दिनमे मैथुन सेवनका त्याग करता है।

सातवी ब्रह्मचर्य प्रतिमाका धारक रात और दिनमे मैथुन सेवन छोडता है।

आठवी आरम्भ त्याग प्रतिमाका धारी आरम्भका त्याग करता है।

नौवी परिग्रह त्याग प्रतिमाका धारी परिग्रहका त्याग करता है।

दसवी अनुमति त्याग प्रतिमाका धारी पाप कार्यका उपदेश तथा अनुमोदन त्यागता है।

ग्यारहवी उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाका धारी अपने उद्देशसे बनाये भोजनका त्याग करता है।

इस प्रकार इनका सामान्य लक्षण जानना। आगे विशेष वर्णन करते है—

## १ दर्शन प्रतिमा

दर्शन प्रतिमाका धारक आठ मूलगुणो को पालता है जो पहले कहे है। कोई आचार्य आठमूल गुण इस प्रकार कहते हैं—पाच उदबरका त्याग एक और तीन मकारका त्याग तीन, सो चार ये हुए तथा चार इस प्रकार हैं—नवकार मन्त्रका धारण, चित्तमें दया, रात्रिभोजन त्याग तथा दो घडी बीते हुए छाने जलका भी त्याग। जुआ, मास, मदिरा, वेश्या, परस्त्री, शिकार और चोरी ये सात व्यसन हैं। इनके सेवनसे राजदण्ड मिलता है और लोकमे निन्दा होती है। अब इन मूल गुणो और सात व्यसनोंके अतीचार कहते हैं—आठ पहरसे ज्यादाका आचार तथा चलितरस वस्तुके भक्षणसे मदिरा त्याग व्रतमें अतीचार लगता है। चमडेके पात्रमें रखे हीग, घी, तेल जल आदिका सेवन करनेसे मांस त्याग व्रतमें अतीचार लगता

है । फूलका भक्षण करनेसे और शहदको आखोंमें आंजनेसे मधुत्याग व्रतमें अतीचार लगता है । अनजान फलका तथा बिना सोधे हुए फलका भक्षण करनेसे पांच उदम्बर त्यागव्रतमें अतीचार लगता है । परस्परमे शर्त लगाकर दौड आदि करनेसे जुआ त्याग व्रतमें अतीचार लगता है । मास और मदिरा त्यागके अतीचार ऊपर कहे हैं । कुआरी लडकीसे क्रीडा करने से तथा अकेली स्त्रीसे एकान्तमें वार्तालाप आदि करनेसे परस्त्री त्यागमे अतीचार लगता है । नाचने, गाने, बजानेमे आसक्ति रखनेसे, उनके देखने सुननेमें रति रखनेसे, वेश्यागामी पुरुषोंकी संगतिसे, तथा वेश्याके घर जानेसे वेश्या त्यागव्रतमें अतीचार लगता है। काष्ठ, पाषाण, मिट्टी, धातु आदिके बने घोडा, हाथी, मनुष्य आदिका छेदन भेदन करनेसे शिकार त्याग व्रतमे अतीचार लगता है। पराये धनको जोर जबरदस्तीसे लेनेसे और थोडे मूल्यमें बहुमूल्य वस्तु को खरीदनेसे, कमती बढती तोलनेसे चोरी त्यागव्रतमे अतीचार लगता है । इन अतीचारो को छोडनेसे प्रथम दर्शन प्रतिमाका धारी होता है अन्यथा पाक्षिक श्रावक ही जानना ।

## २ व्रत प्रतिमा

जो पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोको अतीचार रहित पालता है उसे दूसरी प्रतिमा का धारी कहते हैं । द्वेषबुद्धिसे त्रसजीवो का घात न करना तथा बिना प्रयोजन स्थावर जीवोंका भी घात न करना अहिंसाणुव्रत है ।

जिस झूठके बोलनेसे राजदण्ड का भागी हो तथा जगतमें अपयश हो ऐसा स्थूल झूठ न बोलना तथा बिना प्रयोजन झूठ न बोलना और ऐसा सत्यवचन भी न बोलना जिससे दूसरे जीवोंका बुरा हो, तथा कठोर वचन न बोलना सत्याणुव्रत है । सब प्रकारसे चोरीका त्याग करना, चोरीकी वस्तु मोल न लेना, रास्ते में पडी वस्तुको न उठाना, कमती बढती न तोलना, बहुमूल्य की वस्तुमें कम मूल्य की वस्तु न मिलाना, अचौर्याणुव्रत है । पर स्त्री का सब प्रकारसे त्याग करनेके साथ अष्टमी, चतुर्दशी, सोलह कारण, दशलक्षण, रत्नत्रय आदि पर्वके दिनोंमें स्वस्त्रीसे भी भोग न करना, शील की नौ बाडका पालन करना, कामोत्पादक भोजन न करना, शृंगारादि न करना, परस्त्री की शय्यापर न बैठना आदि ब्रह्मचर्याणुव्रत है ।

अपने पुण्यके अनुसार दस प्रकार की सचित्त अचित्त बाह्य परिग्रह का प्रमाण करना **परिग्रहपरिमाण अणुव्रत** है। ये पाँच अणुव्रत हैं।

दसों दिशाओंमें जीवन पर्यन्तके लिये गमन करनेका परिमाण करना, **दिग्व्रत** है। मर्यादा किये गये क्षेत्रके बाहरसे न वस्तु मगाना, न भेजना, न चिट्ठी पत्री करना चाहिये। इसीप्रकार देश का परिमाण करना कि आज मैं दो कोस या चार कोस या दस बीस कोस जाऊंगा **देशव्रत** है। इन दोनो व्रतोमें भेद यह है कि दिग्व्रत तो जीवन पर्यन्तके लिये होता है और देशव्रत वर्ष, छह महीना, पक्ष वा दिनके लिये किया जाता है। यह क्षेत्रका परिमाण सावद्ययोगके लिये किया जाता है, धर्मकार्योंके लिये नही। बिना प्रयोजन पापकार्य करने का नाम **अनर्थदण्ड व्रत** है। उसके पांचभेद हैं—अपध्यान, हिंसादान, प्रमादचर्या, पापोपदेश और दुःश्रुति। अन्य जीवो का बुरा विचारना **अपध्यान** है। छुरी, कटारी, आदि हिंसाके कारण जो वस्तु है उन्हें दूसरो को देना **हिंसादान** है। प्रमाद पूर्वक धरतीपर विचरण करना बिना देखे भाले उठना बैठना आदि **प्रमादचर्या** है। पापकार्योंका उपदेश देना **पापोपदेश** है। खोटी कथाओका सुनना **दुःश्रुति** है। इसप्रकार बिना प्रयोजनके पापकार्योंका त्याग **अनर्थदण्ड व्रत** है। ये तीन गुणव्रत हैं।

त्रिकाल सामायिक करना **सामायिक व्रत** है। अष्टमी चतुर्दशीको उपवास करना **प्रोषधोपवास व्रत** है। जो वस्तु एक ही बार भोगनेमें आवे उसे भोग कहते हैं जैसे भोजन। और जो बार-बार भोगनेमे आवे उसे उपभोग कहते हैं जैसे स्त्री, वस्त्र आदि। इनका प्रतिदिन परिमाण करना **भोगोपभोग परिमाणव्रत** है। बिना बुलाये मुनियोको नवधा भक्ति पूर्वक आहार आदि देना **अतिथिसंविभागव्रत** है। न्यायपूर्वक धन कमाकर उसके तीन भाग करे। उनमेंसे एक भाग धर्मके निमित्त खर्च करे, एक भाग भोजनके लिये कुटुम्ब परिवारको देवें और एक भाग सचयरूपमे रखे वह उत्कृष्ट दाता है। जो दसवा भाग भी धर्ममे खर्च नही करता उसका घर स्मशानके समान है। धर्मात्मा पुरुषका मुख्य धर्म देवपूजा और दान है। जो धर्ममें धन नही खर्च करता और द्रव्य कमाकर जोडता ही है वह मरकर सर्प होता है। पीछे नरक निगोद जाता है। यह ठीक है कि गृहस्थके घरकी शोभा धनसे है किन्तु धन की शोभा दानसे है। धर्मसें ही धन की प्राप्ति होती है। ये चार शिक्षाव्रत हैं।

इस प्रकार व्रत प्रतिमा का स्वरूप जानना ।

### ३. सामायिक प्रतिमा

दूसरी प्रतिमामें तो अष्टमी, चतुर्दशी और पर्वके दिनोंमे सामायिक अवश्य करता है। और तीसरी प्रतिमाधारी प्रतिदिन सामायिक करता है ।

### ४. प्रोषध प्रतिमा

ऐसे ही दूसरी तीसरी प्रतिमाधारीके प्रोषध उपवासका नियम नही है। मुख्यरूपसे तो करता ही है गौणरूपसे नही भी करता । किन्तु चतुर्थ प्रतिमाधारी नियमसे करता ही है।

### ५ सचित्तत्याग प्रतिमा

दो घडीके छाने हुए जल तथा हरितकाय का सेवन न करना सचित्त त्याग प्रतिमा है । इस प्रतिमा का धारी हस्तादिके द्वारा भी पाचो स्थावर कायो की विराधना नही करता। यद्यपि इसके सचित्त भक्षणका त्याग है। पाँच स्थावर कायों का कायादि द्वारा विराधना का त्याग नही है। ऐसा त्याग मुनियोंके ही होता है। हस्त आदि द्वारा हिंसाका पाप अल्प होता है और मुख द्वारा भक्षणसे महा पाप होता है। उसीका त्याग इस प्रतिमामें है।

### ६ रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा

रात्रि भोजन का त्याग तो पहली दूसरी प्रतिमासे ही मुख्यरूपसे होता आया है। परन्तु क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण, शूद्र आदि नाना प्रकारके जीव हैं। स्पृश्य शूद्र पर्यन्त श्रावक व्रत पाले जाते हैं। सो जिसके कुलधर्ममें रात्रि भोजनका त्याग चला आता है उसके लिये तो रात्रि भोजन त्याग सुगम है। परन्तु अन्य मती शूद्र जैन होकर श्रावक व्रत धारण करे तो उसके लिये कठिन है, इसीसे छठी प्रतिमामें ही सर्व प्रकारसे रात्रिभोजन का त्याग सभव है। अथवा स्वय रात को खानेका त्याग तो पहले ही किया है। इस प्रतिमामे दूसरों को भोजन कराने आदिका त्याग किया जाता है।

### ७ ब्रह्मचर्य प्रतिमा

इस प्रतिमामें अपनी स्त्रीका भी त्याग किया जाता है तथा नौ बाड सहित ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया जाता है।

८. आरंभ त्याग प्रतिमा

इसमे व्यापार, रसोई वगैरह करनेका त्याग किया जाता है।

९ परिग्रह त्याग प्रतिमा

अपने पहिरनेके वस्त्रादिके सिवाय शेष सब परिग्रहका त्याग किया जाता है।

१०. अनुमति त्याग प्रतिमा

इसमें सावद्य कार्योमें अनुमति देनेका भी त्याग किया जाता है।

११ उद्दिष्टत्याग प्रतिमा

इसके दो भेद हैं—क्षुल्लक तो कमण्डल, पीछी, लगोट और आधावस्त्र रखता है। स्पृश्य शूद्र लोहेका पात्र रखता है। उच्चकुलीन पीतल आदि धातुका पात्र रखता है। स्पृश्य शूद्र पाँच घरोसे भोजन लेकर अन्तके घरमे पानी लेकर वही बैठकर लोहेके पात्रमे भोजन करता है। किन्तु उच्चकुलीन एक ही घर भोजन करता है। और ऐलक कमण्डल पीछी और लगोट ही रखता है। अपने करपात्रमे आहार लेता है। केश लोंच करता है। मुनियोके साथ ही विचरण करता है। क्षुल्लक भी मुनियोके साथ विचरण करता है। ये दोनो ससारसे महा उदासीन रहते हैं। अनेक शास्त्रोंके पारगामी होते हैं। स्व परके विचारक होनेसे शरीरसे भिन्न अपने चैतन्य स्वभावमे रमण करते हैं।

आर्यिका तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकुल की ही उत्कृष्ट श्रावकके व्रत धारण करती है।

॥ समाप्त ॥

## भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित
## जैन धर्म, दर्शन और सिद्धान्त विषयक अन्य ग्रन्थ

| | |
|---|---|
| जैन सिद्धान्त—प कैलाशचन्द्र सिद्धान्ताचार्य | 20.00 |
| गोम्मटसार . जीवकाण्ड एव कर्मकाण्ड (प्राकृत-सस्कृत-हिन्दी) (कर्नाटक वृत्ति, सस्कृत टीका, हिन्दी अनुवाद सहित) मूल आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, सपादन—डा. ए. एन. उपाध्ये, अनुवाद—सिद्धान्ताचार्य प कैलाशचन्द्र शास्त्री जीवकाण्ड भाग 1 | 30 00 |
| भाग 2 | 35.00 |
| कर्मकाण्ड भाग 1 | 45.00 |
| भाग 2 | 55.00 |
| षड्दर्शनसमुच्चय (सस्कृत-हिन्दी) द्वितीय सस्करण मूल आचार्य हरिभद्र, सम्पादन-अनुवाद डॉ महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य | 75.00 |
| तत्त्वार्थ-राजवार्तिक (सस्कृत-हिन्दी सार) भाग 1 (द्वि स ) मूल भट्ट अकलंक, सम्पादन अनुवाद—डॉ महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य | 50 00 |
| PANCASTIKAYA-SARA (पंचास्तिकाय-सार) · (Prakrit Text of KundaKunda along with the Sanskrit Commentary of Amritchandra) : Edited and Translated by Prof A Chakravarti, Re-edited by Dr A. N. Upadhye | 30 00 |
| महाबन्ध (प्राकृत-हिन्दी) भाग 5 मूल भगवन्त भूतबलि, सपा अनु प फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री | 20 00 |
| महाबन्ध (प्राकृत-हिन्दी) भाग 6 अनु पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री | 20 00 |
| महाबन्ध (प्राकृत-हिन्दी) भाग 7 ,, ,, | 20.00 |
| सत्यशासन-परीक्षा (सस्कृत) मूल आचार्य विद्यानन्द, सम्पादन डॉ गोकुलचन्द्र जैन | 10 00 |
| जैन न्याय (हिन्दी) प कैलाशचन्द्र शास्त्री | 16 00 |
| श्रावक-प्रज्ञप्ति (सावयपन्नत्ती) (हरिभद्रसूरि रचित सस्कृत वृत्ति सहित) सम्पादन-अनुवाद . पं. बालचन्द्र शास्त्री | 35 00 |
| अनगार धर्मामृत (सस्कृत हिन्दी) (ज्ञानदीपिका स्वोपज्ञ पंजिका सहित) मूल : पं आशाधर, संपादन-अनुवाद पं कैलाशचन्द्र शास्त्री | 30 00 |

सागार धर्मामृत (संस्कृत-हिन्दी ज्ञानदीपिका स्वोपज्ञ पंजिका सहित) मूल : पं आशाधर; सम्पादन-अनुवाद : पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री 18 00

ज्ञानपीठ पूजांजलि (हिन्दी) च स सकलन-सम्पादन डॉ. आ ने उपाध्ये व पं. फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री 18.00

मंगलमन्त्र णमोकार एक अनुचिन्तन (हिन्दी) छठा स —डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री 10 00

जिनवाणी (प्राकृत-हिन्दी) संकलन-सपादन-अनुवाद डॉ हीरालाल जैन 12 00

सुगन्धदशमी कथा (पाँच भाषाओं मे) संपादन ' डॉ. हीरालाल जैन 20.00

COSMOLOGY OLD & NEW by Prof G. R Jain 18 00

केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि (सस्कृत-हिन्दी) (चतुर्थ म ) मूल अज्ञात, सम्पादन-अनुवाद डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री 25 00

दक्षिण भारत मे जैन धर्म (हिन्दी) प कैलाशचन्द्र सिद्धान्ताचार्य 7 00

संस्कृत काव्य के विकास मे जैन कवियो का योगदान (पुरस्कृत)—डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री 30.00

JAINA LITERATURE IN TAMIL by Prof A Chakravarti, with Introduction etc. by Dr L V Ramesh 20 00

RELIGION AND CULTURE OF THE JAINS by Dr. Jyoti Prasad Jain (Third Edition) 35 00

STRUCTURE AND FUNCTIONS OF SOUL IN JAINISM by Dr S. C. Jain 20 00

कथाकोश (संस्कृत) मूल प्रभाचार्य, सम्पादन डॉ आ ने. उपाध्ये 7 00

गीतवीतराग (संस्कृत) (पुरस्कृत) मूल श्री पण्डिताचार्य, सम्पादन डॉ आ ने उपाध्ये 3 00

अजनापवनजय (नाटक) मूल हस्तिमल्ल, सम्पादन वासुदेव पटवर्धन 3 00

पुरुदेवचम्पू (सस्कृत) मूल श्रीमद्अर्हद्दास, सम्पादन श्री जिनदास शास्त्री 0 75

आराधनासमुच्चयो योगसारसग्रहश्च मूल . मुनि रविचन्द, श्रीगुरुदास, सम्पादन डॉ आ ने. उपाध्ये 1 00

ध्यानस्तव (सस्कृत अग्रेजी) मूल भास्करनन्दि; सम्पादन-अनुवाद कु सुजुको ओहिरा 3.00